ओ३म्

सांख्यदर्शन

[स्वामी ब्रह्ममुनिकृतभाषाभाष्यसहित]

प्रथम अध्याय

अथ त्रिविधदुःखात्यन्तनिवृत्तिरत्यन्तपुरुषार्थः ॥ १ ॥

(अथ) अब (त्रिविधदुःखात्यन्तनिवृत्तिः) तीन प्रकार के-आध्यात्मिक, आधिभौतिक, आधिदैविक दुःखों की नितान्तनिवृत्ति (अत्यन्तपुरुषार्थः) परमपुरुषार्थ=पुरुष का परम लक्ष्य, परम पुरुषत्व, मानव एवं मानव जीवन की परम सफलता, मानव स्वरूपता कैवल्यानुभूति जो है, वह प्रस्तुत की जाती है ॥ १ ॥

तदर्थ उपाय विचारप्रसङ्ग में दृष्टसाधन की अपूर्णता दिखलाते हैं—

न दृष्टात् तत्सिद्धिर्निवृत्तेरप्यनुवृत्तिदर्शनात् * ॥ २ ॥

(दृष्टात्) दृष्ट साधन=बाह्य साधन=लोक में प्राप्त होने वाले साधन से (तत्सिद्धिः-न) उस अभीष्ट अत्यन्त दुःखनिवृत्ति की सिद्धि नहीं होती=नहीं हो सकती। क्योंकि (निवृत्तेः—अपि) किसी दुःख की निवृत्ति के अनन्तर भी (अनुवृत्तिदर्शनात्) अनुवृत्ति=पुनःप्रवृत्ति देखी जाने से ॥ २ ॥

दृष्ट साधन=बाह्य साधन=लोक में प्राप्त होनेवाले साधन द्वारा दुःख के प्रतीकार में तो—

प्रात्याहिकक्षुत्प्रतीकारवत्तत्प्रतीकारचेष्टनात् पुरुषार्थत्वम् ॥ ३ ॥

(प्रात्याहिक क्षुत्प्रतीकारवत्) प्रत्यह=प्रतिदिन जैसे क्षुधा का प्रतीकार भोजन से किया जाता है वैसे ही (प्रतीकारचेष्टनात्) उस त्रिविध दुःख के प्रतीकार=निवृत्ति कार्य से (पुरुषार्थत्वम्) पुरुषार्थता हो, न कि अत्यन्त पुरुषार्थता ॥ ३ ॥

और उसमें भी—

सर्वासम्भवात् सम्भवेऽपि सत्त्वासम्भवाद्धेयः
प्रमाणकुशलैः ॥ ४ ॥

---

* '.....निवृत्तेर.....' अनिरुद्धपाठः। '.....निवृत्तेऽ....' विज्ञानभिक्षुपाठः।

(सर्वासम्भवात्) दृष्ट साधन से दुःख प्रतीकाररूप पुरुषार्थता में किसी एक दुःख का प्रतीकार होगा, उस एक दृष्टिसाधन द्वारा उससे सम्बन्ध रखनेवाला ही दुःख निवृत्त होगा, सर्वदुःखनिवृत्ति होना सम्भव नहीं। पुनः (सम्भवे—अपि) बहुत प्रकार के साधनसमूह से दुःखप्रतीकार सम्भव होने पर भी (सत्त्वासम्भवात्) वास्तविक दुःखप्रतीकार=अत्यन्त-दुःखनिवृत्तिरूप मोक्ष के न हो सकने से। जैसे कहा है "**परिणाम-तापसंस्कारदुःखैर्गुणवृत्तिविरोधाच्च दुःखमेव सर्वं विवेकिनः**" (योग० २।१५) परिणाम-ताप-संस्कारमय दुःखों तथा सत्त्व आदि गुणों के परस्परविरोध से सब कुछ विवेकी के लिये दुःख है। अतः (प्रमाण-कुशलैः) यथार्थ समतुलना करने में कुशल, परीक्षणकुशल दूरदर्शी विवेकी जनों द्वारा (हेयः) वह यह दृष्ट साधन गण तथा उससे सिद्ध हुआ दुःख-प्रतीकार त्याज्य है, अनादरणीय है॥४॥

और भी—

उत्कर्षादपि मोक्षस्य सर्वोत्कर्षश्रुतेः॥५॥

(उत्कर्षात्=अपि) शास्त्रविहित दृष्टसाधन के सेवन से उत्कर्ष हो परन्तु उत्कर्ष के हेतु से भी मोक्ष में ही वस्तुतः उत्कर्ष है, वैसा यज्ञ आदि दृष्टसाधन से सिद्ध होनेवाले दुःखनिवृत्तिरूप पुरुषार्थ में नहीं। क्योंकि (मोक्षस्य सर्वोत्कर्षश्रुतेः) मोक्ष की सर्वोत्कर्ष श्रुति होने से=श्रुति मोक्ष को सर्वोत्कर्ष बतलाती है—"**अशरीरं वाव सन्तं न प्रियाप्रिये स्पृशतः**" (छान्दो० ८।१२।१)। शरीर से विमुक्त हुए को सांसारिक सुख-दुःख नहीं छूते। "**एषाऽस्य परमा गतिरेषाऽस्य परमा सम्पत्**" (बृह० ६।३।३२)=यही इसकी उत्कृष्ट गति, यही ऊँची सम्पत्ति है। अतः अत्यन्त दुःखनिवृत्तिरूप मोक्ष के लिये यज्ञ आदि दृष्टसाधन उपादेय नहीं है किन्तु यम-नियम आदि अष्टाङ्गयोगानुष्ठान रूप अदृष्टसाधन उपादेय है॥५॥

अच्छा, हो मोक्ष की सर्वोत्कृष्टता, मोक्ष तो होगा बद्ध का ही, तब बद्ध के मोक्ष में—

अविशेषश्चोभयोः॥६॥

(उभयोः) दृष्ट-अदृष्ट साधनों में (च) भी (अविशेषः) अभेद है, भेद नहीं। साधन समानता से पुनः अष्टाङ्गयोगाभ्यासादि अदृष्ट साधन से भी बद्ध का मोक्ष न होगा। यह पूर्वपक्ष रूप से कथन है॥

अनिरुद्धवृत्ति और विज्ञानभिक्षुभाष्य, हरिप्रसादवृत्ति में इस सूत्र

का अन्यथा व्याख्यान है वहाँ पूर्वापर सङ्गति का अभाव है, हमारे भाष्य में पूर्वापर सङ्गति प्रत्यक्ष है ॥ ६ ॥

समाधान—

न स्वभावतो बद्धस्य मोक्षसाधनोपदेशविधिः ॥ ७ ॥

(स्वभावतः) स्वरूप से (बद्धस्य) बद्ध का=बन्धे हुए का (मोक्ष-साधनोपदेशविधिः न) मोक्षसाधनोपदेश का विधान नहीं होता=नहीं सम्भव। शास्त्रों में मोक्षसाधनोपदेश है—"**तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति**" (यजु० ३१।१८)=उस परमात्मा को जानकर मोक्ष को प्राप्त होता है, "**तमेव विदित्वा न बिभाय मृत्योः**" (अथर्व० १०।८।४४)=उसे जानकर मृत्यु से नहीं डरता। "**भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः। क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे**"=(मुण्डको० २।२।८) हृदय की ग्रन्थि खुल जाती है, सब संशय छिन्न-भिन्न हो जाते हैं और कर्म भी क्षीण हो जाते हैं, उस परावर=दूर से दूर और निकट से निकट वर्तमान परमात्मा को जानकर। "**भूतेषु भूतेषु विचिन्त्य धीराः प्रेत्यास्माल्लोकादमृता भवन्ति**" (केनो० २।५)=वस्तु-वस्तु में उसका विचार कर धीर इस लोक से मरकर अमर हो जाते हैं। अतः जो यह अष्टाङ्ग योगाभ्यास, श्रवण आदि अदृष्ट साधन से मोक्ष न होगा सो यह कथन ठीक नहीं, क्योंकि जीवात्मा स्वभावतः=स्वभाव से बद्ध नहीं किन्तु निमित्त से बद्ध है। बन्धन के निमित्त को हटाने में योगाभ्यास श्रवणचतुष्टय तो अवश्य समर्थ है ॥ ७ ॥

स्वभाव से बद्ध के मोक्षसाधनोपदेश में क्या हानि ? इस पर कहते हैं—

स्वभावस्यानपायित्वादननुष्ठानलक्षणमप्रामाण्यम् ॥ ८ ॥

(स्वभावस्य) स्वरूप के (अनपायित्वात्) न दूर होनेवाला होने से, जो स्वभाव जिसका होता है वह उस द्रव्य को नहीं छोड़ता=उस द्रव्य से अलग नहीं होता। स्वभाव तो द्रव्य के साथ ही रहता है जब तक द्रव्य है। अतः स्वभाव से बद्ध को मोक्षसाधनोपदेश का विधान (अननुष्ठान-लक्षणम्) अनुष्ठानावकाशरहित लक्षणवाला होकर (अप्रामाण्यम्) अप्रमाणत्व दोष को प्राप्त हो जावे ॥ ८ ॥

और भी—

नाशक्योपदेशविधिरुपदिष्टेऽप्यनुपदेशः ॥ ९ ॥

(अशक्योपदेशविधिः) न हो सकनेवाले कार्य का उपदेश विधान

नहीं होता। क्योंकि (उपदिष्टे—अपि) उपदेश देने पर भी (अनुपदेशः) उसका अनुपदेश ही है=अनुष्ठान के अभाव से। अतः जीवात्मा स्वभाव से बद्ध नहीं है किन्तु निमित्त से बद्ध का योगाभ्यास, श्रवण आदि अदृष्ट साधन से मोक्ष हो जायगा, यह कथन ही ठीक है एवं मोक्ष का उपदेश भी सार्थक है=युक्त है ॥ ९ ॥

शंका करके समाधान करते हैं, दो सूत्रों द्वारा—

शुक्लपटवद् बीजवच्चेत् ॥ १० ॥

शक्त्युद्भवानुद्भवाभ्यां नाशक्योपदेशः ॥ ११ ॥

इन दोनों सूत्रों की एक वाक्यता है—

(शुक्लपटवद्) श्वेत वस्त्र=सफेद कपड़े की भाँति=जैसे सफेद कपड़े की स्वाभाविक सफेदी रंगने से चली जाती है, तथा (बीजवत्) बीज की भाँति, जैसे बीज का आदि से वर्तमान बीज स्वरूप अङ्कुर-प्रादुर्भाव से नष्ट हो जाता है, वैसे जीवात्मा का स्वाभाविक बन्ध हट जाता है (चेत्) यदि ऐसा कहा जावे तो (शक्त्युद्भवानुद्भवाभ्याम्) शुक्लवस्त्र में रंगग्रहण की और बीज में अङ्कुरप्रादुर्भाव की शक्ति स्वाभाविक है, अस्वाभाविक नहीं, केवल उस शक्ति का उद्भव और अनुद्भव देखा जाता है। श्वेत वस्त्र में रंगग्रहणशक्ति पूर्व से विद्यमान होने के कारण उसका रागप्रदान से उद्भव हो जाता है, रागप्रदान से पूर्व अनुद्भूत रूप में रहती है। इसी प्रकार बीज में अङ्कुरप्रादुर्भावशक्ति पूर्व से ही विद्यमान होने के कारण उसका अङ्कुरप्रादुर्भाव हो जाने से उद्भव हो जाता है, प्रादुर्भाव से पूर्व अनुद्भूत रूप में रहती ही है। यदि ऐसा न हो तो शुक्लवस्त्र का शुक्लवस्त्रपन और बीज का बीजपन व्यर्थ हो जावे। अतः (अशक्योप-देशः-न) शास्त्र में 'न हो सकनेवाला उपदेश' नहीं होता। बन्ध जीवात्मा का स्वाभाविक नहीं किन्तु नैमित्तिक है=निमित्त से है। निमित्त से बन्धे हुए जीवात्मा का मोक्षोपदेश अशक्य नहीं, यह सिद्ध हुआ।

सूत्र में उद्भव=प्रादुर्भाव, अनुद्भव=अप्रादुर्भाव, इस अर्थस्वारस्य को छोड़कर अनिरुद्धवृत्ति में 'अनुद्भव' का 'अभिभव' और विज्ञानभिक्षुभाष्य में 'तिरोभाव' अर्थ करके दग्ध बीज से भी अङ्कुरोत्पत्ति योग के सङ्कल्प से होती है, यह अप्रासङ्गिक कल्पना की है, जो अयुक्त है। 'अनुद्भव' का अर्थ 'अभिभव' या 'तिरोभाव' नहीं होता, क्योंकि 'अनुद्भव' शब्द 'उद्भव' शब्द का प्रतिद्वन्द्वी है, उद्भव तो प्रादुर्भाव का नाम है, अतः

'अनुद्भव' का अर्थ प्रतिद्वन्द्वी होना चाहिए। अभिभव या तिरोभाव प्रतिद्वन्द्वी नहीं किन्तु प्रादुर्भाव हुए का भी किसी बाधक से अभिभाव या तिरोभाव हुआ करता है। यहाँ शक्ति का उद्भव और अनुद्भव कहा जा रहा है अतः उनकी कल्पना ठीक नहीं॥ १०-११॥

अच्छा, हो निमित्त से बन्धे हुए जीवात्मा को मोक्ष का उपदेश, किस निमित्त से वह बन्धा, यह युक्ति-प्रयुक्तियों से विचार किया जाता है। यह विचारधारा कुछ सूत्रों द्वारा प्रकट की जाती है। प्रथम काल के विषय में—

न कालयोगतो व्यापिनो नित्यस्य सर्वसम्बन्धात्॥ १२॥

(कालयोगतः-न) काल के संसर्ग से जीवात्मा नहीं बन्धा, काल निमित्तक बन्धन जीवात्मा का नहीं है। क्योंकि (व्यापिनः-नित्यस्य) काल व्यापी और नित्य है, व्यापी एवं नित्य का (सर्वसम्बन्धात्) सबके साथ सम्बन्ध हाने से। व्यापी, नित्य सर्वसम्बन्धवाले पदार्थ से छूटना 'मोक्ष होना' नहीं बनता। वह व्यापी होता हुआ नित्य है, केवल व्यापी नहीं जो कदाचित् उससे सम्बन्ध हो और कदाचित् न होगा। पुनः केवल नित्य नहीं व्यापी भी है, जो क्वचित् सम्बन्ध हो और क्वचित् न हो ऐसी बात भी नहीं। अतः कालनिमित्तक बन्धन नहीं है, क्योंकि उससे मोक्ष नहीं हो सकता॥ १२॥

देश के विषय में—

न देशयोगतोऽप्यस्मात्॥ १३॥

(देशयोगतः-अपि न) देश यहाँ 'आकाशदेश' है। आकाशरूप देश-सम्बन्ध से भी जीवात्मा बद्ध नहीं कि जो आकाशदेश के मोक्षार्थ उपदेश हो, क्योंकि (अस्मात्) पूर्वोक्त हेतु से ही आकाशदेश के व्यापी और नित्य होने से, व्यापी-नित्य से विमोक्ष नहीं होता है॥ १३॥

अवस्थाविषय में—

नावस्थातो देहधर्मत्वात् तस्याः॥ १४॥

(अवस्थातः-न) बाल्य, यौवन, वार्धक्य अवस्था से भी जीवात्मा बन्धा नहीं, क्योंकि (तस्याः-देहधर्मत्वात्) उस अवस्था के देहधर्मत्व से बाल्य आदि अवस्था परिणाम देह का धर्म है, देह में ही वे परिणाम होते हैं और देह बन्धन के अनन्तर प्राप्त होता है, अतः अवस्था से भी बन्ध और उससे माक्षोपदेश का अवसर नहीं॥ १४॥

और फिर—

असङ्गोऽयं पुरुष इति ॥ १५ ॥

(अयं पुरुषः असङ्गः-इति) यह देह से भिन्न आत्मा असङ्ग है= अवस्था परिणामरूप देहधर्म से असक्त अर्थात् पृथक् होता है, अतः श्रुति में कहा है—"**असङ्गो ह्ययं पुरुषः**" (बृह० उ० ४।३।१५) ॥१५॥

काल आदि योग से बन्धा नहीं और न अवस्थारूप देहधर्म से बन्धा, तो कर्म से बन्धा हो। इसके सम्बन्ध में कहते हैं—

न कर्मणाऽन्यधर्मत्वादतिप्रसक्तेश्च ॥ १६ ॥

(कर्मणा न) यहाँ 'कर्म' इन्द्रियों के कार्यव्यवहार दान, आदान, भाषण आदि व्यवहार के लिये है। इन्द्रिय-व्यवहार से भी नहीं बन्धा जीवात्मा क्योंकि (अन्यधर्मत्वात्) पुरुष से अन्य अहंकार का धर्म होने से, अहङ्कार के अधीन इन्द्रिय-व्यवहार सिद्धि है। (च) तथा (अतिप्रसक्तेः) अतिप्रसङ्ग दोष के आने से भी, अन्य के धर्म से बन्धन स्वीकार करने में मुक्त में भी बन्धन का प्रसङ्ग आ जावेगा, अन्य धर्म से बन्धन की हेतु-समानता से ॥ १६ ॥

अन्य के धर्म से बन्धन में यह एक और दोष उपस्थित होता है—

विचित्रभोगानुपपत्तिरन्यधर्मत्वे ॥ १७ ॥

(अन्यधर्मत्वे) अन्य के धर्म से अन्य को फलप्राप्ति का हेतु स्वीकार करने में (विचित्रभोगानुपपत्तिः) संसार में विविध भोगों की अयुक्तता हो जावे=विविध भोग न हो सकें। संसार में देखा जाता है कुछ बहुत सुखी हैं, कोई थोड़े सुखी हैं, कोई सुखी हैं, कुछ सुखहीन हैं। कोई महादुःखी, कोई पूर्णाङ्ग वाले, कोई न्यूनाङ्ग वाले तथा गलिताङ्ग वाले हैं। ये विविध भोग नहीं बन पड़ते, यदि अन्य के किये कर्म का फल अन्य भोगे ॥ १७ ॥

प्रकृतिनिबन्धनाच्चेत् तस्या अपि पारतन्त्र्यम् ॥ १८ ॥

(प्रकृतिनिबंधनात्-चेत् न) प्रकृति ही पुरुष को बांधती है, यदि यह कहा जावे तो ठीक नहीं, क्योंकि (तस्याः—अपि) उसके भी (पारतन्त्र्यम्) परतन्त्र होने से। प्रकृति स्वतन्त्र नहीं जड़ होने से वह परतन्त्र=पुरुषाधीन है ॥ १८ ॥

न नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावस्य * तद्योगस्तद्योगादृते ॥ १९ ॥

(नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावस्य) शुद्धबुद्धमुक्तनित्यस्वभाव वाले पुरुष

---

* 'नित्यःशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावो यस्य' तस्य

अर्थात् आत्मा का (तद्योगः—न) 'तद्योग' में तत् शब्द से पूर्व सूत्र में आई प्रकृति अभीष्ट है। पूर्व सूत्र में प्रकृति का पुरुष के साथ योग निराकृत किया है, प्रकृति के परतन्त्र होने से। पुनः पुरुष के स्वतंत्र होने पर भी इस सूत्र में उसका प्रकृति के साथ योग निराकृत किया, उसके शुद्धबुद्ध मुक्त नित्य स्वभाव वाला होने से; प्रकृतियोग के प्रति उपेक्षा से। तब (तद्योगात्-ऋते) उन दोनों प्रकृति पुरुष के योग के बिना फिर जो बन्ध कारण कल्पित किया जा सकता है उस पर विचार करते हैं, अगले सूत्रों द्वारा।

यहाँ सूत्र में 'तद्योग' शब्द का अर्थ अनिरुद्धवृत्ति, विज्ञानभिक्षुभाष्य और हरिप्रसाद वैदिक-वृत्ति में 'बन्ध योग' किया है परन्तु यहाँ यह नहीं होना चाहिए, क्योंकि पूर्वसूत्र में प्रकृति के साथ सम्बन्ध के लिये प्रकृति की भांति पुरुष परतन्त्र तो नहीं है किन्तु स्वतन्त्र होता हुआ भी वह शुद्धबुद्धमुक्तनित्य भाववान् होने से प्रकृति-योग की आवश्यकता रहित है, किन्तु उपेक्षावृत्ति वाला है। अतः उसका प्रकृति-योग सम्भावनीय नहीं, अतएव यहाँ 'तद्योगः' शब्द का अर्थ प्रकृतियोग ही सत्यार्थ है, अन्यथा 'नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावस्य' यह हेतुरूप कथन व्यर्थ हो जावे। पुरुष की शुद्धबुद्ध-मुक्तनित्यस्वभावता उसके तद्योगनिषेध=प्रकृति-पुरुषयोग निषेध में हेतुप्रदर्शन है। और फिर 'तद्योगादृते' का अनिरुद्धवृत्ति और विज्ञानभिक्षुभाष्य में 'प्रकृतियोग के बिना' अर्थ किया, वह भी अयुक्त ही है। पूर्वोक्त दोनों हेतु यहाँ भी हैं, क्योंकि प्रकृतियोग कैसे हो ? प्रकृति परतंत्र है, उसके द्वारा तो निषिद्ध ही किया गया है। पुरुष द्वारा ही प्रकृतियोग हो सो वह भी नहीं, पुरुष शुद्ध-बुद्ध-मुक्त-नित्य-स्वभाववान् होने से अनेपक्ष है, उसके द्वारा भी प्रकृतियोग निषिद्ध है। इस प्रकार दोनों के द्वारा योग निषिद्ध होने से एकपक्षीय योग सम्भावनीय नहीं है, सम्भावनीय तो उभयपक्षीय है और वह स्वस्वामिभावरूप है, जो शास्त्र के अन्त में स्वीकार किया गया है। अवएव 'तद्योग' प्रकृति-पुरुषयोग में भिन्न हेतुओं की अयोग्यता दिखलाकर अन्त में पचपनवें सूत्र में 'तद्योग' प्रकृति-पुरुषयोग का कारण अविवेक कहा है—"**तद्योगोऽप्य-विवेकान्न समानत्वम्**" [१।५] प्रकृति-पुरुष के योग का कारण अविवेक प्रदर्शित किया है। ऐसे ही शास्त्र के अन्त में स्वस्वामिभाव का कारण भी अविवेक दिखलाया है—"**अविवेकनिमित्ता वा पञ्चशिखः**" [६।६८], अतः अनिरुद्धवृत्ति, विज्ञानभिक्षुभाष्य तथा स्वामिहरिप्रसादभाष्य में नितान्त

अयुक्त कथन है ॥ १९ ॥

अब प्रकृतिपुरुष योग का अन्य कारण जो कल्पित किया जा सके उसका विचार करते हैं—

नाविद्यातोऽप्यवस्तुना बन्धायोगात् ॥ २० ॥

(अविद्यातः-अपि न) विद्या का अभाव अविद्या, उस अभावरूप अविद्या से भी जीवात्मा का बन्धन कल्पित नहीं किया जा सकता, क्योंकि (अवस्तुना) अवस्तु से=अभावरूप अविद्या से (बन्धायोगात्) बन्धन का योग न हो सकने से। कहीं अवस्तु भी वस्तु को बान्धती है ? वस्तु का बन्धन-योग तो किसी वस्तु से होना चाहिए ॥ २० ॥

पुनः—

वस्तुत्वे सिद्धान्तहानिः ॥ २१ ॥

(वस्तुत्वे) अविद्या का वस्तुत्व स्वीकार करने में (सिद्धान्त-हानिः) दार्शनिक सिद्धान्त की हानि है, कहीं भी दर्शन [आर्षदर्शन] में अभाव को वस्तु रूप से स्वीकार नहीं किया जाता है या स्वीकार करना युक्त नहीं है। दर्शन तो उसे ही स्वीकार करता है जो सत्तारूप से दिखलाई पड़े या ज्ञानपथ को प्राप्त हो, वही दर्शन का प्रतिपाद्य है ॥ २१ ॥

और भी—

विजातीयद्वैतापत्तिश्च ॥ २२ ॥

(विजातीयद्वैतापत्तिः-च) तथा भाव से भिन्न अभाव भी वस्तु रूप से स्वीकार किया जावे, तो भाव से भिन्न अभाव का भावविरोधी दूसरी सत्ता की आपत्ति खड़ी हो जावे कि वह अभाव से भिन्न विरोधी दूसरी सत्ता अनर्थकारी हो जावे, यह दर्शन सिद्धान्त में अभीष्ट नहीं ॥ २२ ॥

अथवा—

विरुद्धोभयरूपा चेत् ॥
न तादृक्पदार्थाप्रतीतेः ॥ २३-२४ ॥

इन दोनों सूत्रों की एकवाक्यता हैं—

(विरुद्धोभयरूपा चेत्) यदि तो अविद्या अवस्तु से विरुद्ध अर्थात् न वस्तु, न अवस्तु; किन्तु विरुद्ध होती हुई दोनों रूप है, ऐसा कल्पित किया जावे तो (न) यह कल्पित करना ठीक नहीं, क्योंकि (तादृक्-पदार्थाप्रतीतेः) वैसे पदार्थ की प्रतीति=उपलब्धि किसी भी प्रमाण से नहीं होती ॥ २३—२४ ॥

पूर्वपक्ष रूप से फिर कहते हैं—

न वयं षट्पदार्थ [ादि] वादिनो वैशेषिकादिवत्॥ २५॥

(वयं षट्पदार्थादिवादिनः-न) अप्रतीत भी पदार्थ हो, क्योंकि हम छः, सोलह, पच्चीस पदार्थवादी नहीं हैं (वैशेषिकादिवत्) वैशेषिक, नैयायिक, सांख्य जैसे नहीं हैं। जैसे उनके द्वारा छः, सोलह, पच्चीस पदार्थ नियत किये जाते हैं। यहाँ वैशेषिक आदि कथन गुणवशात् है, न कि संज्ञा के कारण। वैशेषिक आदि सिद्धान्तवादी कणाद आदि से पूर्व भी थे, यह सम्भव है ही। क्योंकि वैशेषिक आदि नाम दर्शनविद्या नाम हैं, दर्शन वेदों के उपाङ्ग हैं॥ २५॥

उत्तर देते हैं—

अनियतत्वेऽपि नायौक्तिकस्य संग्रहोऽन्यथा बालोन्मत्तादिसमत्वम्॥ २६॥

(अनियतत्वे-अपि) पदार्थों की छः, सोलह, पच्चीस संख्या नियत न भी हो तथाऽपि उनके अनियतत्व स्वीकार में भी (अयौक्तिकस्य) युक्तिहीन वस्तु और अवस्तु के विरुद्ध तथा दोनों रूपवाले पदार्थ का (संग्रहः-न) अग्रहण=स्वीकार नहीं होता है (अन्यथा) युक्तिहीन के स्वीकार में (बाल-उन्मत्तादिसमत्वम्) बाल अर्थात् अज्ञानी, उन्मत्त= मानसिक रोग उच्चाट मनवाले, आदि शब्द से='मादक द्रव्य सेवन से भ्रान्त' के कथन के समान हो जावे, पुनः इसका कथन भी स्वीकार करना पड़े। अतः वैसा अविद्यापदार्थ स्वीकार करने योग्य नहीं। पुनः उससे बन्ध है, यह कहने का भी अवसर नहीं है॥ २६॥

जीवात्मा के बन्धन के विषय में अन्य कल्पना उठाकर समाधान करते हैं—

नानादिविषयोपरागनिमित्तौऽप्यस्य॥ २७॥

(अनादिविषयोपरागनिमित्तः) अनादि विषयोपरागनिमित्त जिसका हो, ऐसा प्रवाह से अनादि विषयवासना निमित्त वाला (अपि अस्य न) भी इस जीवात्मा का क्षणिकवाद में बन्धन नहीं कहा जा सकता। चौतीसवें सूत्र में क्षणिकवाद मत का प्रत्यक्ष कथन है। क्षणिकवाद में आत्मा अस्थिर होने से, बन्धन का आधार न होने से, बन्धन नहीं बनता॥ २७॥

---

१ 'निमित्तः' अनिरुद्धपाठ, 'निमित्तिकः' विज्ञानभिक्षु का पाठ।

तथा—

न बाह्याभ्यन्तरयोरुपरञ्ज्योपरञ्जकभावोऽपि देशव्यवधानात् स्रुघ्नस्थपाटलिपुत्रस्थयोरिव ॥ २८ ॥

(बाह्याभ्यन्तरयोः) बाह्यविषयोपराग जीवात्मा के बन्धन का निमित्त जो कहा है सो उस बाह्यविषयोपराग और आभ्यन्तर आत्मा का (उपरञ्ज-योपरञ्जकभावः अपि न) उपरञ्ज्य=उपरागस्थान और उपरञ्जक=उपराग हेतु का सम्बन्ध भी नहीं हो सकता (देशव्यवधानात्) देश के व्यवधान से विषय शरीर से बाहिर हैं और आत्मा शरीर के अन्दर है। जैसे (स्रुघ्न-स्थपाटलिपुत्रस्थयोः-इव) स्रुघ्न='सुग' नामक नगर (पंजाब में) और पटना में स्थित अलग-अलग रङ्ग और वस्त्र या राग और रागी का राग-रागिसम्बन्ध नहीं हो सकता, ऐसे ही यहाँ भी नहीं हो सकता॥ २॥

क्षणिकवाद में आभ्यन्तर ही आत्मा स्थिर है ऐसा नहीं, किन्तु बाहिर भी है, तब बाहिर वाले आत्मा से सम्बन्ध हो जावेगा?

इस पर उत्तर देते हैं—

द्वयोरेकदेशलब्धोपरागान्न व्यवस्था ॥ २९ ॥

(द्वयोः) विषय और आत्मा दोनों का (एकदेशलब्धोपरागात्) एक देश में हुए उपराग सम्बन्ध से (न व्यवस्था) व्यवस्था न हो सकेगी, क्षणिकवाद में बन्ध और मोक्ष के भी क्षणिक होने से तथा आत्मा के भी क्षणिक होने से सब बद्ध हो जावेंगे, शरीर हो या अशरीर हो विषय से सबका समान सम्बन्ध होने से॥ २९॥

फिर आशङ्का करके समाधान करते हैं दो सूत्रों से। प्रथम आशङ्का करता है—

अदृष्टवशाच्चेत्॥ ३०॥

(अदृष्टवशात्-चेत्) सब बद्ध नहीं होंगे किन्तु उसमें व्यवस्था हो जावेगी अदृष्टवश से, उनमें जिस-जिसका अदृष्ट अवशिष्ट होगा, उसको विषयोपराग हो जावेगा अन्य को नहीं॥ ३०॥

विषयोपरागमात्र से सबका बन्धन न हो सकेगा यदि यह कहा जावे तो—

न द्वयोरेककालायोगादुपकार्योपकारकभावः ॥ ३१ ॥

(एककालायोगात्) भिन्न-भिन्न काल के सम्बन्ध से, अदृष्ट काल में अन्य आत्मा, बन्धकाल में अन्य होगा, वस्तु मात्र के क्षणिक होने से।

क्षणिकवाद में किसी भी आत्मा के प्रति (द्वयोः) अदृष्ट और बन्ध का (उपकार्योपकारकभावः न) कारण-कार्य-भाव या निमित्त—नैमित्तिक भाव सम्भव नहीं। अतः क्षणिकवाद में बन्ध-मोक्ष व्यवस्था नहीं बन पड़ती, अतएव प्रवाह से चला आया विषयोपराग बन्धन का हेतु नहीं है॥ ३१॥

फिर आशङ्का करते हैं—

पुत्रकर्मवदिति चेत्॥ ३२॥

(पुत्रकर्मवत्) पुत्रोत्पत्ति=गर्भाधान आदि कर्म पुत्रकर्म। उस गर्भाधान कर्म में पुत्र के भिन्न-भिन्न रूप होते हैं। वह गर्भाधान कर्म पूर्वावस्था वाले पुत्र में प्रकट होता है, पहिले और पिछले पुत्र के भिन्न-भिन्न स्वरूपों में किया हुआ संस्काररूप धर्म पश्चिमावस्था वाले पुत्र में उपकार्य-उपकारक भाव होता है। उसी प्रकार भिन्न-भिन्न अदृष्ट और बन्ध में भी उपकार्य-उपकारक भाव हो जावेगा (इति चेत्) यदि ऐसा कहा जावे॥ ३२॥

तो—

नास्ति हि तत्र स्थिर एकात्मा यो गर्भाधानादिना संस्क्रियते॥ ३३॥

(न) यह कथन ठीक नहीं, (तत्र) वहाँ गर्भ में पुत्र के भिन्न-भिन्न रूपों में (स्थिरः) स्थिर (एकः-आत्मा अस्ति हि) एक आत्मा गर्भाधान से लेकर देहपात तक है, (यः) जो (गर्भाधानादिना) गर्भाधान आदि संस्कार कर्म से (संस्क्रियते) संस्कृत किया जाता है॥ ३३॥

पुनः पूर्वपक्षरूप से कहते हैं—

स्थिरकार्यासिद्धेः क्षणिकत्वम्॥ ३४॥

(स्थिरकार्यासिद्धेः) स्थिरकार्य की अनुपलब्धि से—किसी भी वस्तु में स्थिरकार्य स्थिरपरिणाम के अभाव से (क्षणिकत्वम्) वस्तुमात्र का क्षणिकत्व सम्भव है। अतः आत्मा का भी क्षणिकत्व जानना चाहिए॥ ३४॥

फिर उत्तर देते हैं—

न प्रत्यभिज्ञा बाधात्॥ ३५॥

(न) वस्तुमात्र का क्षणिकत्व नहीं, (प्रत्यभिज्ञाबाधात्) प्रत्यभिज्ञा के बाधप्रसङ्ग से। जो यह प्रत्यभिज्ञा होती है कि बाल्यावस्था में जो मैं

था सो वही मैं यौवन में हूँ, जो मैं यौवन में था वही मैं बुढापे में हूँ, जो मैं प्रातःकाल था सो मैं सायं हूँ, जो मैं सायं था सो मैं शयनवेला में हूँ, जो मैं शयनवेला में था सो मैं जागरणकाल में भी हूँ, यह प्रत्यभिज्ञा=पुनःस्मृति स्वविषयक होती है, उसका बाधप्रसङ्ग दोष आ जावे। अतः आत्मा स्थिर है, क्षणिक नहीं। इसलिये क्षणिकवाद में विषयोपराग बन्धन का हेतु नहीं बनता॥ ३५॥

और भी—

श्रुतिन्यायविरोधाच्च॥ ३६॥

(श्रुतिन्यायविरोधात्-च) श्रुति और न्याय के विरोधप्रसङ्ग से भी आत्मा क्षणिक नहीं। श्रुतिविरोध—"**आत्मा.....स इतः प्रयन्नेव पुनर्जायते**" (ऐ०उ० ४। ४)=आत्मा इस शरीर से निकलते ही दूसरे शरीर में जन्म धारण करता है। "**अविनाशी वा अरेऽयमात्माऽनुच्छित्ति-धर्मा**" (बृह० ४।५।१४)=यह आत्मा अविनाशी और अनुच्छेद धर्म वाला है। न्यायविरोध=तर्कविरोध प्रसङ्ग से भी, भोग की कामना रखता हुआ पुरुष भोगसाधन का अनुष्ठान करता है। पश्चात् वह ही भोगरूप फल भोगता है '**यः कर्ता स भोक्ता**'=जो करता है वही भोगता है, यह न्याय है। यदि साधनानुष्ठानकाल में भिन्न और भोगकाल में भिन्न हो तो कौन साधनानुष्ठान करे? तब लोक व्यवहार भी न बन सके, विनष्ट हो जावे। प्रसिद्ध भी है "**को नामानुपभोग्ये कर्मणि तत्साधने वा प्रवर्तते**"=कौन अनुपभोग्य कर्म में या उसके साधन में प्रवृत्त हो। यह व्यवहार उपलब्ध होता है कि अब मैं साधनानुष्ठान करूँ, पश्चात् फल भोगूँ, अतः क्षणिक आत्मा नहीं है॥ ३६॥

तथा—

दृष्टान्तासिद्धेश्च॥ ३७॥

(दृष्टान्तासिद्धेः—च) क्षणिकवाद में दृष्टान्त की असिद्धि होने से भी। क्षणिकपक्ष स्थापना में प्रथम हेतु देकर फिर दृष्टान्त दिया जावेगा अथवा प्रथम दृष्टान्त को देकर पश्चात् हेतु दिया जावेगा एवं दोनों प्रकार से भी दृष्टान्त की असिद्धि रहेगी, हेतु से उसका सम्बन्ध न बनेगा; क्योंकि जब पूर्व हेतुकाल है तो पश्चात् दृष्टान्तकाल है। उन पूर्व और उत्तर काल में होनेवाले हेतु और दृष्टान्त के क्षणिक होने से सम्बन्ध न हो सकेगा कि यह दृष्टान्त उस हेतु का है, पूर्व दिए हेतु के क्षणिक होने से

वह उत्तरकालस्थ दृष्टान्त को सम्बन्धित नहीं कर सकता, और जब पूर्वस्थापित दृष्टान्त हो और उत्तरकाल में हेतु तब वह दृष्टान्त अपने से उत्तरकालस्थ हेतु के साथ सम्बन्धित नहीं हो सकता। इस प्रकार भी दृष्टान्त की असिद्धि उसके क्षणिक होने से है। अतः क्षणिकवाद ठीक नहीं और इससे बन्ध मोक्ष की व्यवस्था भी न बन सके॥ ३७॥

और भी—

युगपज्जायमानयोर्न कार्यकारणभावः॥ ३८॥

(युगपत्—जायमानयोः) समान क्षण या काल में उत्पन्न हुओं का (कार्यकारणभावः—न) कार्यकारणभाव नहीं हो सकता, न हुआ करता है कि यह इसका कार्य है, यह कारण है, ऐसी व्यवस्था नहीं बनती है। कार्य से पूर्व ही कारण होना चाहिए और कारण से कार्य प्रवृत्त होता है, अतएव हेतु दृष्टान्त में भी समानक्षणता नहीं हो सकती। एक ही क्षण में हेतुपन और दृष्टान्तपन का निश्चय नहीं हो सकता। उनमें पूर्वता और परता होनी अवश्यम्भावी है, अतः क्षणिकवाद में किसी के साथ भी कार्यत्व सङ्गत नहीं है॥ ३८॥

क्योंकि—

पूर्वापाये उत्तरायोगात्॥ ३९॥

(पूर्वापाये) जब तक क्षणिक है तब तक पूर्व पदार्थ का नाश हो जाने पर (उत्तरायोगात्) उत्तरवर्ती पदार्थ का उस नष्ट हुए पूर्ववर्ती के साथ योग—सम्बन्ध न हो सकने से, वह पूर्ववर्ती पदार्थ उत्तरवर्ती पदार्थ का कारण नहीं, और न उत्तरवर्ती पदार्थ पूर्ववर्ती पदार्थ का कार्य है, क्षणिकत्व से सम्बन्ध के अभाव से॥ ३९॥

और फिर—

तद्भावे तदयोगादुभयव्यभिचारादपि न॥ ४०॥

(तद्भावे) उस पूर्व के भाव में=वर्तमानत्व में (तदयोगात्) उत्तर के अयोग से उस समय उसकी अविद्यमानता से (उभयव्यभिचारात्—अपि—न) दोनों पदार्थों के कार्य-कारणता-विषयक व्यभिचार हो जाने= अनिश्चय हो जाने से भी क्षणिकवाद ठीक नहीं॥ ४०॥

पुनः शङ्का करके समाधान करते हैं—

पूर्वभाविमात्रे न नियमः॥ ४१॥

(पूर्वभाविमात्रे) जो-जो ही पूर्वभावी=पूर्वक्षणवर्ती, वह-वह पदार्थ

उस क्षण न होता हुआ भी पूर्ववर्ती होने से कारण हो, इतने मात्र कथन में (नियमः-न) नियम नहीं है=नहीं हो सकता=नहीं मिलता है। क्योंकि पूर्वक्षणवर्ती तो क्षणिकवाद में विनष्ट हो जाता है, फिर उत्तरवर्ती कार्यरूप पदार्थ का कारण कौन है ? यह प्रश्न है। यदि तो पदार्थ का क्षणिकत्व न स्वीकार किया जावे कि कारण पदार्थ स्वकार्य के काल में भी होता है। तब तो नियम हो सकेगा कि यह इसका कारण कार्य में अन्वयीरूप से रहता है, वस्त्र में तन्तु, भूषण में सुवर्ण, घड़े में मिट्टी। अन्यथा सुवर्ण या मिट्टी भी वस्त्र के कारणत्व को प्राप्त हो जावे। अतः क्षणिकवाद ठीक नहीं। वहाँ बन्ध के कारण की अयुक्ति रहती है॥ ४१॥

अब विज्ञानवाद का खण्डन किया जाता है—

न विज्ञानमात्रं बाह्यप्रतीतेः॥ ४२॥

(विज्ञानमात्रं न) सब विज्ञानमात्र है, विज्ञान से अतिरिक्त कुछ नहीं। बन्धन का कारण भी खोजने योग्य नहीं और बन्ध भी वास्तविक नहीं, वह तो विज्ञानमात्र है। इस प्रकार विज्ञानमात्र नहीं, क्योंकि (बाह्यप्रतीतेः) बाह्य वस्तु की बाह्य इन्द्रियों से प्रतीति होती है इसलिये। बाह्य इन्द्रियों से प्रतीत होने वाला 'यह घड़ा है' ऐसा प्रतीत होता है, न कि 'मैं घड़ा हूँ' ऐसी प्रतीति॥ ४२॥

और फिर—

तदभावे तदभावाच्छून्यं तर्हि॥ ४३॥

(तदभावे) बाह्य विषय के अभाव में (तदभावात्) उस विज्ञान का भी अभाव=न अनुभव हो (तर्हि शून्यम्) तब शून्य का प्रसङ्ग हो जावे। अतः विज्ञानमात्र नहीं, वस्तुस्थिति तो है ही, अतएव बन्धकारण की खोज करनी आवश्यक है॥ ४३॥

अब शून्यवाद को उठाते हैं—

शून्यं तत्त्वं भावो विनश्यति वस्तुधर्मत्वाद् विनाशस्य॥ ४४॥

(शून्यं तत्त्वम्) शून्यतत्त्व=वस्तुतत्त्व है। क्योंकि (भावः—विनश्यति) भावरूप=सत्तात्मक पदार्थ विनष्ट हो जाता है (विनाशस्य) विनाश के (वस्तुधर्मत्वात्) वस्तुधर्म होने से। भावात्मक वस्तु का धर्म विनाश है, विनाश होने पर शून्य हो जाता है। पुनः बन्ध कारण का और मोक्ष का भी नाश हो जावेगा, तब बन्धकारण की खोज करने और मोक्ष पाने की भी आवश्यकता नहीं॥ ४४॥

उत्तर देते हैं—

अपवादमात्रमबुद्धानाम् ॥ ४५ ॥

(अबुद्धानाम्) 'शून्य तत्त्व है और भावरूप वस्तु विनष्ट हो जाती है' यह कथन अज्ञों=अज्ञानी जनों का (अपवादमात्रम्) प्रलापमात्र है। क्योंकि शून्य को सिद्ध करने के लिये प्रमाण स्वीकार किया जावे तो वह शून्य का घातक हो जावेगा, प्रमाण की सत्ता सिद्ध हो जाने से। प्रमाण के अस्वीकार में प्रमाणाभाव से शून्यवाद की असिद्धि रहे। शून्य के साधन में भावरूप वस्तु विनष्ट हो जाती है, ऐसे कथन में प्रथम भावरूप वस्तु स्वीकार करके पश्चात् उसका विनाश दिखलाया है। विनाश भी किसी वस्तु का सर्वथा नहीं होता और फिर निरवयव आत्मा का तो विनाश सम्भव ही नहीं, उसके अखण्ड होने से। खण्डवान् पदार्थ ही विनष्ट होता है, खण्ड-खण्ड होकर, खण्ड-खण्ड हो जाना ही विनाश का अर्थ है, पुनः खण्डों की सत्ता के विद्यमान होने से शून्य ही नहीं है॥ ४५ ॥

और भी—

उभयपक्षसमानक्षेमत्वादयमपि ॥ ४६ ॥

(उभयपक्षसमानक्षेमत्वात्—अयम्—अपि) दोनों पक्षों—क्षणिकपक्ष और विज्ञानमात्र पक्ष के तुल्य हेतु के निराकरण से यह शून्यवाद पक्ष भी अयुक्त और निराकृत=खण्डित जानना चाहिए। उस क्षणिक पक्ष और विज्ञान पक्ष में जैसे प्रत्यभिज्ञा से बाह्य प्रतीति से विज्ञानपक्ष का निराकरण किया है, वैसे ही प्रत्यभिज्ञा और बाह्य प्रतीति से शून्यवाद का निराकरण हो जाता है, यह जानना चाहिए॥ ४६ ॥

और भी—

अपुरुषार्थत्वमुभयथा ॥ ४७ ॥

(उभयथा—अपुरुषार्थत्वम्) दोनों प्रकार से अपुरुषार्थता है। अपने शून्यभाव के लिये कौन यत्न करे? तथा शून्यरूप मोक्ष के लिये भी कैसे शास्त्रोपदेश हो? और सबके क्षणिकत्व में बन्ध भी क्षणिक मोक्ष भी क्षणिक हो जावे। पुनः क्षणिक बन्ध की निवृत्ति के लिये किया हुआ पुरुषार्थ अपुरुषार्थ हो जावे क्योंकि पुरुषार्थ-क्षण में बन्ध नहीं रहता है और मोक्ष के भी क्षणिक होने से उसके लिये किया हुआ पुरुषार्थ भी अपुरुषार्थ हो जावे, दूसरे क्षण में न रहने से॥ ४७ ॥

'गतिनिमित्तक बन्ध हो' यह पक्ष उठाकर समाधान करते हैं, दो

सूत्रों द्वारा—

न गतिविशेषात्॥ ४८॥

निष्क्रियस्य तदसम्भवात्॥ ४९॥

इन दोनों सूत्रों की एकवाक्यता है—

(गतिविशेषात्—न) गतिविशेष से आत्मा का बन्ध हो, अधम गति से लोक में मनुष्य बन्धन को प्राप्त होता है, सो भी नहीं (निष्क्रियस्य) आत्मा निष्क्रिय होने से (तदसम्भवात्) उसका आत्मा में सम्भव न होने से॥ ४८-४९॥

और फिर—

मूर्तत्वाद् घटादिवत् समानधर्मापत्तावपसिद्धान्तः॥ ५०॥

(मूर्तत्वात्) गति का सम्भव वस्तु के मूर्तत्व से (घटादिवत्) घड़े की भाँति होता है, जैसे—घड़े आदि में गति उपलब्ध होती है उसके मूर्त=आकारवाला, अवयवों वाला होने से (समानधर्मापत्तौ) आत्मा में गति स्वीकार करने पर, घड़े आदि के समान धर्म 'कठोरता' 'घनता' 'खण्डवाला होने' 'रूपादिवाला होने' की अनिष्टापत्ति हो जावे, तब (अपसिद्धान्तः) अयुक्त सिद्धान्त=मिथ्या सिद्धान्त का प्रसङ्ग हो जावे। अतः आत्मा में गतिसम्भव नहीं है। अतएव गतिविशेष से उसका बन्ध भी कल्पना करने योग्य नहीं॥ ५०॥

और भी—

गतिश्रुतिरप्युपाधियोगादाकाशवत्॥ ५१॥

न कर्मणाऽप्यतद्धर्मत्वात्॥ ५२॥

अतिप्रसक्तिरन्यधर्मत्वे॥ ५३॥

निर्गुणादिश्रुतिविरोधश्चेति॥ ५४॥

इन सूत्रों की एकवाक्यता है—

(गतिश्रुतिः) जो वह आत्मा के सम्बन्ध में अधमगति श्रुति है—"**असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसाऽऽवृताः। तांस्ते प्रेत्यापि गच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः**" (यजु० ४०। ३)=असुरों के निमित्त वे लोक हैं जो घने अन्धकार से आच्छादित हैं। "**पापेन पापं लोकं नयति**" (प्रश्नो० २। ७)=पाप से पाप लोक को ले जाता है। वह (उपाधियोगात्) उपाधि के योग से (आकाशवत्) आकाश की भांति होती है, आकाश जैसे

मलिन। आकाश मलिन नहीं होता, पर उपाधि=आश्रय के योग से मलिन कहा जाता है, वैसे ही आत्मा में भी गति, श्रुति, उपाधि=आश्रय के योग से, सूक्ष्म शरीर के योग से होती है, स्वरूपतः नहीं। और फिर वह विशेष गति पाप कर्म के हेतु होने पर (कर्मणा-अपि न) किये कर्म से आत्मा में सम्भव हो, ऐसा भी नहीं कहा जा सकता (अतद्धर्मत्वात्) कर्म ही आत्मा का धर्म नहीं, फिर उससे उत्पन्न गति कैसे आत्मा के बन्धन का कारण हो? कर्म ही बन्धन का कारण नहीं, पूर्व कहे जाने से (अन्यधर्मत्वे) अन्य के धर्म द्वारा बन्ध योग में (अतिप्रसक्तिः) अतिप्रसङ्ग दोष होगा। पुनः (निर्गुणादिश्रुतिविरोधः च—इति) "**असङ्गो ह्ययं पुरुषः**" (बृह० ४। २। १५)=आत्मा असङ्ग है। उस निर्गुणप्रतिपादिका श्रुति से विरोध भी आ जाता है, अतः गतियोग बन्ध का कारण नहीं॥ ५१-५४॥

अन्ततः—

*तद्योगोऽप्यविवेकान्न समानत्वम्॥ ५५॥

(तद्योगः) वह उन्नीसवें सूत्र में प्रदर्शित प्रकृतिपुरुषयोग (अपि-अविवेकात्) 'अपि' सम्भावना में है। अविवेक=अयथार्थज्ञान, मिथ्याज्ञान से स्वात्मा और प्रकृति के स्वरूप ज्ञान न होने से होता है। 'तद्योग'= प्रकृति-पुरुषयोग पृथक्-पृथक् स्वरूप के अज्ञान से होने वाला है (समानत्वं न) अतः यहाँ बन्धकारणविचार में भिन्न हेतुवाद के साथ इस अविवेक हेतुप्रदर्शन का समानत्वदोष=समानत्व नहीं है, क्योंकि जिसका अविवेक उसके बन्ध का निमित्तभूत 'तद्योग'=प्रकृतिपुरुषयोग होता है, विवेक को प्राप्त हुए का नहीं, बन्धाभाव से मुक्त हो जाता है। विवेक को प्राप्त हुए के लिये काल आदि बन्ध के कारण नहीं बनते और न क्षणिकवाद विज्ञान या शून्यवाद की भांति अव्यवस्था को प्राप्त हो।

यहाँ के 'तद्योग' शब्द का अर्थ अनिरुद्ध वृत्ति में 'धर्माधर्मयोग' किया है वह अर्थ अन्यथा ही है। क्योंकि पूर्व से चला हुआ 'तद्योग'= प्रकृति-पुरुषयोग यहाँ भी बन्धकारण निर्णय समाप्ति के लिये फिर कहा है। विज्ञानभिक्षुभाष्य में तो 'तद्योग' का हमारे समान प्रकृतिपुरुष संयोग इस सूत्र में किया है परन्तु उन्नीसवें सूत्र में ऐसा अर्थ नहीं किया, किन्तु वहाँ 'तद्योगादृते' प्रकृति संयोग के बिना अर्थ किया है। सो वहाँ पूर्व भी प्रकृतिपुरुष-संयोग अर्थ करना चाहिए था॥ ५५॥

---

* सूत्र में 'तद्योगः' पाठ विज्ञानभिक्षु का। अनिरुद्ध का पाठ तो 'तद्योगे' है।

तो कैसे अविवेक का नाश हो, सो कहते है—

नियतकारणात् तदुच्छित्तिर्ध्वान्तवत् ॥ ५६ ॥

(तदुच्छित्तिः) उस अविवेक का नाश होता है (नियतकारणात्) विरोधी नियत कारण 'विवेक' से, जिसके न होने पर अविवेक की प्रवृत्ति होती है, विवेक हो जाने पर निवृत्त हो जाता है (ध्वान्तवत्) जैसे अन्धकार का विरोधी नियत कारण प्रकाश होता है, अन्धकार का विरोधी नियत कारण प्रकाश अन्धकार का नाशक होता है। इसी प्रकार अविवेक के नाशार्थ उसका विरोधी नियत कारण 'विवेक' है, उस विरोधी नियत कारण विवेक से अविवेक का नाश हो जाता है ॥ ५६ ॥

अच्छा, प्रकृतिपुरुषयोग अविवेक से हो और उनके अविवेक का नाश विवेक से हो, किन्तु प्रकृति-पुरुष से अतिरिक्त महत्तत्त्व आदि के तथा शरीर से बुद्धि आदि के विषय में तो अविवेक रह जायगा ही, पुनः वह अनिष्ट करे।

इस पर कहते हैं—

प्रधानाविवेकादन्यविवेकस्य तद्धाने हानम् ॥ ५७ ॥

(प्रधानाविवेकात्) मुख्य पदार्थ प्रकृति और पुरुष के अविवेक से (अन्याविवेकस्य) अन्यविषयक अविवेक=गौणविषयक अविवेक का सम्भव भी (तद्धाने हानम्) उस मुख्य विषयक अविवेक के नाश होने पर गौणविषयक अविवेक का भी नाश हो जाता है ॥ ५७ ॥

'असङ्गो ह्ययं पुरुषः' यह पुरुष असङ्ग है, ऐसा कहा जाता है। पुनः असङ्ग पुरुष में अविवेक प्रसङ्ग कैसे होगा? इस आकांक्षा पर कहते हैं—

वाङ्मात्रं न तु तत्त्वं चित्तस्थितेः ॥ ५८ ॥

(वाङ्मात्रं न तु तत्त्वम्) पुरुष में अविवेक प्रतिपादन कथनमात्र तो उपचार रूप में तो है, तत्त्वरूप से या तात्त्विक रूप में नहीं है। क्योंकि (चित्तस्थितेः) चित्त शब्द अन्तःकारण के लिये है। उस अविवेक के अन्तःकरण में अवस्थान होने से, अन्तःकरण के द्वारा अविवेक का अनुभव पुरुष करता है ॥ ५८ ॥

तो वह ऐसा अविवेक तो श्रवणमात्र से निवृत्त हो जावेगा फिर विवेकदर्शनाभ्यासरूप महान् अध्यात्म प्रयास क्यों करना?

यहाँ उत्तररूप में कहते हैं—

युक्तितोऽपि न बाध्यते दिङ्मूढवदपरोक्षादृते ॥ ५९ ॥

(युक्तितः—अपि) श्रवण से तो क्या किन्तु युक्ति से भी=मनन से भी (न बाध्यते) अविवेक नहीं हटाया जा सकता (दिङ्मूढवत्) दिशा के सम्बन्ध में मूढ=भ्रमयुक्त मनुष्य की भांति (अपरोक्षात् ऋते) साक्षात् सम्मुख आए सूर्योदय या सूर्यप्रकाश के बिना जैसे दिशा भ्रमवान् का दिशाभ्रम नहीं हटता वैसे साक्षात्—विवेक के बिना अविवेक नहीं हटता ॥ ५९ ॥

अब विवेक—प्रकार वर्णित करते हैं—

अचाक्षुषाणामनुमानेन बोधो धूमादिभिरिव वह्नेः ॥ ६० ॥

(अचाक्षुषाणाम्) अप्रत्यक्ष पदार्थों का (अनुमानेन बोधः) अनुमान प्रमाण से बोध=विवेक होता है (धूमादिभिः-इव) जैसे धूम आदि से। धूम, विस्फुलिङ्ग=चिनगारी, चटचटा शब्द से (वह्नेः) अप्रत्यक्ष अग्नि का बोध=विवेक हो जाता है। उनमें प्रत्यक्ष पदार्थ तो स्थूल भूत हैं, देह आदि अप्रत्यक्ष उनसे भिन्न शेष अन्य प्रकृति आदि हैं ॥ ६० ॥

अनुमान द्वारा विवेकप्राप्ति के लिये उन प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्षों का कार्य-कारणभाव प्रदर्शित करते हैं—

सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः प्रकृतेर्महान्
महतोऽहङ्कारोऽहङ्कारात् पञ्चतन्मात्राण्युभयमिन्द्रियं
तन्मात्रेभ्यः स्थूलभूतानि पुरुष इति पञ्चविंशतिर्गणः ॥ ६१ ॥

(सत्त्वरजस्तमसाम्) सत्त्व=प्रकाश, रजः=द्रवपन तरलपन=बहना, तमः=स्तब्धपन=कठोरपन=ठोसपन ये प्रकाश, गति, स्थिति रूप शक्तियाँ हैं। उनका अथवा जगत् में जिनके द्वारा प्रकाश, तरलपन, ठोसपन=प्रकाश, गति, स्थिति प्रवृत्त होती हैं उन ऐसे वस्तु शक्तिरूपों की (साम्यावस्था) समावस्था=निश्चेष्टावस्था=अप्रकटरूपावस्था (प्रकृतिः) प्रकृति है या प्रकृति कही जाती है, (प्रकृतेः—महान्) फिर प्रकृति से महत्तत्त्व प्रकट होता है। (महतः अहङ्कारः) महत्तत्त्व से अहङ्कार नाम का प्रकृति का दूसरा विकार प्रकट होता है, (अहङ्कारात्) अहङ्कार से (पञ्चतन्मात्राणि) बाह्य जगत् में पाँच तन्मात्रों=सूक्ष्म भूत तथा (उभयम्—इन्द्रियम्) देह में दोनों ज्ञान-कर्म-इन्द्रियगण उत्पन्न होता है, (तन्मात्रेभ्यः) तन्मात्रों से=सूक्ष्मभूतों से (स्थूल-भूतानि) पृथिवी आदि स्थूल भूत व्यक्त होते हैं=स्वरूप में आते हैं (पुरुषः) पुरुष चेतनसत्ता उनसे भिन्न (इति) यह

(पञ्चविंशतिः—गणः) पच्चीस पदार्थों का गण जानना-समझना और विवेचनीय है—विवेक में आवश्यक है ॥ ६१ ॥

अब सम्बन्धप्रतिलोमक्रम से अनुमान का प्रकार—

स्थूलात् पञ्चतन्मात्रस्य ॥ ६२ ॥

(स्थूलात्) पृथिवी स्थूलभूतगण कार्यरूप से (पञ्चतन्मात्रस्य) उसके कारणरूप पाँच तन्मात्रगण=सूक्ष्मभूतगण का अनुमान से बोध=विवेक करना चाहिए ॥ ६२ ॥

फिर—

बाह्याभ्यन्ताभ्यां तैश्चाहङ्कारस्य ॥ ६३ ॥

(बाह्याभ्यन्ताभ्याम्) बाह्येन्द्रियगण=कर्मेन्द्रियगण और आभ्यन्तरेन्द्रियगण=ज्ञानेन्द्रियगण के द्वारा (तैः-च) और उन पञ्चतन्मात्रों द्वारा कारणरूप (अहङ्कारस्य) अहङ्कार का बोध=विवेक अनुमान से करना चाहिए। इन्द्रियों की सूक्ष्मस्थिति और संस्कार तथा तन्मात्रों का संहत सूक्ष्मभाव जहाँ रहता है, वह 'अहङ्कार' है ॥ ६३ ॥

पश्चात्—

तेनान्तःकरणस्य ॥ ६४ ॥

(तेन) अहङ्कार कार्य से (अन्तःकरणस्य) उसके कारणरूप 'महतत्त्व' का अनुमान द्वारा बोध=विवेक करना चाहिए। बाहिरी प्रसार से सङ्कोच जिसमें होता है ॥ ६४ ॥

उसके पश्चात्—

ततः प्रकृतेः ॥ ६५ ॥

(ततः प्रकृतेः) उस महत्तत्त्व कार्य से उसके कारणरूप प्रकृति का अनुमान से बोध=विवेक करना चाहिए, जिसमें सर्वथा निःस्तब्धता हो जाती है ॥ ६५ ॥

कार्य-कारण प्रक्रिया का अनुसरण करके प्रकृतिपर्यन्त अनुमान का प्रकार दर्शा दिया, अब यहाँ पुरुष के बोधार्थ अनुमान प्रकार प्रदर्शित करते हैं—

संहतपरार्थत्वात् पुरुषस्य ॥ ६६ ॥

(संहतपरार्थत्वात्) सत्त्वगुण रजोगुण तमोगुण की साम्यावस्था प्रकृति है, वह तीन गुणों से संहत है=युक्त है। उसके कार्य महत्तत्त्व आदि संहत हैं, एक दूसरे से संहत हैं। इस प्रकार प्रकृतिपर्यन्त सब वस्तुएँ

संहत हैं। संहत वस्तु परार्थ होती है—"**परार्थं संहत्यकारित्वात्**" (योग० ४। २४)=उस संहत के परार्थ होने से (पुरुषस्य) पररूप पुरुष का अनुमान से बोध=विवेक होता है॥ ६६॥

जो प्रकृति महत्तत्त्वादि समस्त विकार या कार्य का मूल है, क्या उसका भी मूल है? इस आकांक्षा पर कहते हैं—

मूले मूलाभावादमूलं मूलम्॥ ६७॥

(मूले मूलाभावात्) मूल में अन्य मूल पदार्थ का अभाव होता है। अतः (अमूलं मूलम्) मूलरहित 'मूल' होता है। अतः मूल के मूल की कल्पना नहीं करनी चाहिए। प्रकृति ही महत्तत्त्व आदि का मूल है, उसका मूल नहीं होता है॥ ६७॥

मूल के भी अन्य मूल कल्पना में—

पारम्पर्येऽप्येकत्र परिनिष्ठेति संज्ञामात्रम्॥ ६८॥

(पारम्पर्ये-अपि) 'मूलभूत प्रकृति के भी परे मूल अन्य मूल है', इस कल्पना में पुनः उससे पर उसका मूल, पुनः उस से भी पर मूल, इस प्रकार मूलपरम्परा का प्रसङ्ग आ जावे, मूलपरम्परा में परम्परा के प्रवाह में (एकत्र परिनिष्ठा) किसी एक वस्तु में परिसमाप्ति=कथनपरिसमाप्ति या विचार-परिसमाप्ति तो होगी ही, अनवस्था दोष मिटाने के लिये। तब जिसमें या जिस पर समाप्ति उसे ही मूल=सर्वतोमूल 'अमूल प्रकृति' कहेंगे, भिन्न नाम से संज्ञामात्र का भेद होगा, मूलत्व भेद और मूल के अमूलत्व का भेद नहीं॥ ६८॥

प्रकृति के संहत पदार्थ होने में पूर्व पक्ष उठाते हैं—

समानः प्रकृतेर्द्वयोः॥ ६९॥

(प्रकृतेः) पञ्चमी विभक्ति का निर्देश है। प्रकृति से (द्वयोः) मुक्त और बद्ध दोनों पुरुषों का (समानः) समान अर्थलाभ है, प्रकृति परार्थ है पुरुष के लिये है, यह अभी सूत्र में कहा ही है कि "**संहतपरार्थत्वात् पुरुषस्य**" [१। ६६]। वैसे ही योगदर्शन में भी "**परार्थं संहत्यकारित्वात्**" (योग० ४। २४)। इससे समान अर्थ प्रकृति से सिद्ध होना चाहिये, दोनों मुक्त और बद्ध का फिर कैसे किसी को मोक्षफल, किसी को भोग फल?

यहां (द्वयोः) इसका अर्थ अनिरुद्धवृत्ति में 'वादीप्रतिवादिनोः' और विज्ञानभिक्षुभाष्य में 'वादिप्रतिवादिनोः अथवा प्रकृतिपुरुषयोः' वादिप्रतिवादी या प्रकृति-पुरुष अर्थ किया है। दोनों का अर्थ अयुक्त है। यहाँ

वादी-प्रतिवादी का सूत्र में प्रत्यक्ष प्रसङ्ग नहीं है तथा अगले सूत्र के साथ उक्त अर्थ की असङ्गति भी है॥ ६९॥

समाधान करते हैं—

अधिकारित्रैविध्यान्न नियमः॥ ७०॥

(अधिकारित्रैविध्यात्) अधिकारियों के उत्तम, मध्यम, मन्द रूप तीन भेद होने से (नियमः—न) समान अर्थसिद्धि का नियम नहीं है। उनमें उत्तम अधिकारी शीघ्र मुक्त हो जाता है, मध्यम अधिकारी देर में अनेक जन्म जन्मान्तरों में घूमकर मुक्तिभोगी होता है और मन्द तो बद्ध हुआ भोग के पीछे ही दौड़ता है॥ ७०॥

कार्यकारणभाव को आश्रितकर अनुमान से अप्रत्यक्ष प्रकृति का, पुनः प्रकृति से उसके विकारों का संहतपन का अवलम्बनकर पुरुष का विवेक प्रकार प्रदर्शित कर अब प्रकृति के पूर्वापर कार्यक्रम को कहते हैं—

महदाख्यमाद्यं कार्यं तन्मनः॥ ७१॥

(महदाख्यम्) 'प्रकृतेर्महान्' कहा है [१।६१] वह महत्तत्त्व (आद्यं कार्यम्) प्रकृति का प्राथमिक कार्य=सर्वप्रथम कार्य है जो कि (तत्—मनः) वह सामष्टिक मन=मनन साधन निश्चयात्मक अन्तःकरण है॥ ७१॥

चरमोऽहङ्कार॥ ७२॥

(चरमः—अहङ्कारः) '**महतोऽहङ्कारः**' जो कहा है वह महत्तत्त्व से पिछला विकार या कार्य है॥ ७२॥

तत्कार्यत्वमुत्तरेषाम्॥ ७३॥

(उत्तरेषाम्) '**अहङ्कारात् पञ्चतन्मात्राणि-उभयमिन्द्रियम्**' इन उत्तर उत्पन्न हुए पञ्चतन्मात्रों और दोनों इन्द्रियवर्गों का (तत्कार्यत्वम्) अहङ्कार कार्यत्व=अहङ्कार के वे कार्य हैं। पुनः उत्तर के स्थूल पञ्चतन्मात्रों के कार्य हैं, यह भी कहा जाना चाहिए॥ ७३॥

उसमें—

आद्यहेतुता तद्द्वारा पारम्पर्येऽप्यणुवत्॥ ७४॥

(पारम्पर्ये—अपि) प्रकृति का कार्य महत्तत्त्व उसका कार्य अहङ्कार, अहङ्कार का तन्मात्राएँ, उनका कार्य स्थूल भूत, इस परम्परा में भी (तद्द्वारा) उक्त कार्य-कारण—परम्परा द्वारा (आद्यहेतुता) आदि में होने वाला—आद्य और वह हेतु=आद्य हेतु उसका भाव आद्यहेतुता=

प्राथमिककारणता (अणुवत्) अणु के समान जाननी चाहिए, खोजनी चाहिए। जैसे किसी महत्परिमाणवाली वस्तु घड़े आदि की कारणता में अणु उसका अत्यन्त सूक्ष्म भाग आद्य=प्राथमिक कारण है वैसे ही यहाँ आद्यकारणता का निर्णय करना चाहिए कि इससे परे कारण क्या, पुनः इससे परे क्या, इस प्रकार प्रतिलोम रीति से॥ ७४॥

अन्त में—

पूर्वभावित्वे द्वयोरेकतरस्य हानेऽन्यतरयोगः॥ ७५॥

(द्वयोः पूर्वभावित्वे) समस्त कार्य से पूर्व सत्ता वाले प्रकृति पुरुष होने पर (एकतरस्य) एक की आद्यहेतुता का हान हो जाने पर=प्राथमिक कारणता की असिद्धि हो जाने पर (अन्यतरयोगः) उससे भिन्न का आद्यहेतुतायोग=प्राथमिक कारणता सम्बन्ध जानना चाहिए। पुरुष में पारम्पर्य से अणुत्व नहीं है, जैसे योगदर्शन व्यासभाष्य में कहा है— **''पार्थिवस्याणोर्गन्धतन्मात्रं सूक्ष्मो विषयः, आप्यस्य रसतन्मात्रं तैजसस्य रूपतन्मात्रं वायवीयस्य स्पर्शतन्मात्रमाकाशस्य शब्दतन्मात्रं तेषामहङ्कारः, अस्यापि लिङ्गमात्रं सूक्ष्मो विषयः, लिङ्गस्यालिङ्गं सूक्ष्मो विषयः, न चालिङ्गात्परं सूक्ष्ममस्ति, यथा लिङ्गात्परमलिङ्गस्य सौक्ष्म्यं न चैवं पुरुषस्य किन्तु लिङ्गस्यान्वयिकारणं पुरुषो न भवति, अतः प्रधाने सौक्ष्म्यं निरतिशयं व्याख्यातम्''** (योग १। ४५ व्यासः) अर्थात् पार्थिव अणु की गन्धतन्मात्रा सूक्ष्म, जलीय अणु की रसतन्मात्रा, आग्नेय अणु की रूपतन्मात्रा, वायव्य अणु की स्पर्शतन्मात्रा, आकाशीय अणु की शब्दतन्मात्रा सूक्ष्म विषय है। इनसे सूक्ष्म अहङ्कार, अहङ्कार से सूक्ष्म महत्तत्त्व, महत्तत्त्व से सूक्ष्म प्रकृति है, प्रकृति से सूक्ष्म नहीं है। जैसे महत्तत्त्व से परे प्रकृति की सूक्ष्मता है ऐसी सूक्ष्मता पुरुष की नहीं क्योंकि महत्तत्त्व का अन्वयी कारण पुरुष नहीं है, अतः अन्वयिरूप से सूक्ष्मता प्रकृति में ही अतुल कही है। अतः अखिल कार्य में आद्यहेतुता=प्राथमिकता प्रकृति की ही है॥ ७५॥

प्रकृति की आद्यहेतुता कही जाती है अणुवत्, फिर अणु ही आद्य हेतु सब जगत् का हो, इस आकांक्षा पर कहते हैं—

परिच्छिन्नत्वान्न सर्वोपादानम्॥ ७६॥

(परिच्छिन्नत्वात्) अणु के परिच्छिन्न=एकदेशी होने से (सर्वोपादानं न) सब जगत् का उपादान नहीं हो सकता। एक-एक घड़े आदि वस्तु

या पार्थिव आदि पदार्थ का उस-उसका अणु उपादान कारण हो सब वस्तुओं का या पार्थिव, आप्य, आग्नेय, वायव्य, आकाशीय पदार्थों का ? एक अणु सर्वोपादान नहीं हो सकता किन्तु प्रत्येक पृथक्-पृथक् पदार्थ का पृथक् पृथक् अणु उपादान हो सके, सर्वोपादान नहीं। अतः प्रकृति ही सर्वोपादान है, उसी के सर्वोपादान होने से आद्यहेतुता है ॥ ७६ ॥

और फिर

तदुत्पत्तिश्रुतेश्च ॥ ७७ ॥

(तदुत्पत्तिश्रुतेः—च) 'उत्पत्ति' शब्द यहाँ भाववाचक नहीं है किन्तु कर्म-प्रयोग है। क्तिन् प्रत्यय का कर्म में भी विधान होने से। अतः उत्पत्ति-सृष्टि अर्थ में है। 'तत्' शब्द प्रकृति के लिये है जो कि चल रही है। प्रकृति की सृष्टिविषयक श्रुति होने से प्रकृति ही सर्वोपादान आद्यहेतु है। श्रुति—"**तम आसीत् तमसा गूढमग्रेऽप्रकेतं सर्वं सलिलमा इदम्। तुच्छ्येनाभ्वपिहितं यदासीत्तन्महिना जायतैकम्॥**" (ऋ० १०।१२९। १३)='आभु' जो ढका हुआ था वह महत्तत्त्व रूप से प्रकट हुआ। 'आभु' से उत्पति श्रुति है। यह महत्तत्त्व रूप से प्रथम विकृति सृष्टि होती है। "**इयं वि सृष्टिर्यत आबभूव**" (ऋ १०।१२९।७)=जो 'आभु' पूर्व कहा है उससे सृष्टि 'आबभूव' यह कथन योगानुसारी है, धातु के सम्बन्ध से युक्त है। "**तद्धेदं तर्ह्यव्याकृतमासीत् तन्नामरूपाभ्यामेव व्याक्रियत**" (बृह० १।४-७)=वह ही यह अव्यक्त का वह नाम रूपों से व्याकृत हुआ विशेष आकृतिमान् हुआ, व्यक्त हुआ=प्रकट हुआ। "**अजामेकां लोहिशुक्लकृष्णां बह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः**" (श्वेताः ४।५)= अजन्मा प्रकृति सत्त्वगुण, रजोगुण, तमोगुण वाली सरूप त्रिगुणी बहुरूप सृष्टि पदार्थों का सर्जन करती है। "**प्रधानाज्जायते सृष्टिः**" अर्थात् प्रकृति से सृष्टि होती है, यह श्रुति के नाम से वचन अनिरुद्धवृत्ति में कहीं से उद्धृत किया है ॥ ७७ ॥

प्रकृति के अदृश्य होने से वह वस्तु नहीं, अतः अवस्तु से सृष्टि हुई। इसके उत्तर में कहते हैं—

नावस्तुनो वस्तुसिद्धिः ॥ ७८ ॥

(अवस्तुनः) अवस्तु से=अभाव से=अभाव रूप से (वस्तुसिद्धिः—न) जगत्-रूप वस्तु की सिद्धि नहीं होती। अतः जगत् का उपादान कारण प्रकृति वस्तुरूप है, अवस्तुरूप नहीं ॥ ७८ ॥

जगत् भी अवस्तु हो। इस पर कहते हैं—

अबाधाददुष्टकारणजन्यत्वाच्च नावस्तुत्वम्॥ ७९ ॥

(अबाधात्) जगत् के अबाध से=प्रमाणों से जगत् का बाध नहीं होता, किन्तु प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से उपलब्ध होता है। (च) तथा (अदुष्टकारणजन्यत्वात्) जगत् अदुष्टकारणजन्य भी है=दुष्ट कारण से उत्पन्न होने वाला, दोष से प्रतीत होने वाला भी नहीं, जैसे कामला आदि नेत्रदोष से पीतशङ्ख प्रतीति होती है। अतः (अवस्तुत्वं न) जगत् का अवस्तुत्व नहीं=जगत् अवस्तु नहीं, किन्तु वस्तुरूप ही है। एवं जगत् के वस्तु होने से उसका कारण भी वस्तु ही होना चाहिए क्योंकि अवस्तु से वस्तु सिद्धि नहीं होती॥ ७९ ॥

इसलिये—

भावे तद्योगेन तत्सिद्धिरभावे तदभावात् कुतस्तरां तत्सिद्धिः॥ ८० ॥

(भावे) कारण के वस्तुत्व होने पर (तद्योगेन) उसके सम्बन्ध से (तत्सिद्धिः) कार्य की भी वस्तुत्व सिद्धि होती है (अभावे) कारण के अवस्तुत्व में (तदभावात्) उसके अभाव होने पर (कुतस्तराम्) कैसे फिर (तत्सिद्धिः) जगत् की सिद्धि=प्रसिद्धि हो, अर्थात् कभी नहीं हो सकती। जगत् का कारण वस्तुरूप में होना चाहिए॥ ८० ॥

और—

न कर्मण उपादानत्वायोगात्॥ ८१ ॥

(कर्मणः—न) यदि कोई कल्पना करे कि क्या आवश्यकता है वस्तुरूप प्रकृति की जगत् सिद्धि में, जिसका विवेक करना पड़े? किन्तु कर्म से जगत् सिद्धि हो तब, कर्म से जगत् की सिद्धि सम्भव नहीं। क्योंकि (उपादानत्वायोगात्) कर्म के द्रव्यनिष्ठ होने से वह द्रव्य से भिन्न अपनी सत्ता स्वतन्त्र नहीं रखता। वह कार्य का लक्षण है। कर्म उपादान नहीं, उसके अद्रव्य होने से, उपादान न हो सकने से। उपादान तो वही होता है जो रूपान्तरता को धारण करता है, परिणाम को प्राप्त होता है। कर्म तो द्रव्यस्थ रहता है, जब तक कर्म का अन्त हो तब तक ही सत्ता वाला है स्थायी नहीं, किन्तु प्रकृति का परिणाम जगत् है, अतः प्रकृति का विवेक आवश्यक है॥ ८१ ॥

नानुश्रविकादपि तत्सिद्धिः साध्यत्वेनावृत्तियोगाद-पुरुषार्थत्वम् ॥ ८२ ॥

(आनुश्रविकात्—अपि) वेद से जो सुना जाता है वह आनुश्रविक है। अनुश्रव=वेदोपदेश। कर्म जगत् का उपादान न हो, प्रकृति ही जगत् का उपादान, प्रकृति के विवेक की आवश्यकता कही जाती है परन्तु ऐसा नहीं, आनुश्रविक कर्म से मोक्षसिद्धि हो जावेगी। सो कहते हैं कि आनुश्रविक कर्म से भी (तत्सिद्धिः-न) मोक्षसिद्धि न होगी। क्योंकि (साध्यत्वेन) जैसे लौकिक कर्म का फल साध्य कोटि में है ऐसे वैदिक कर्म का फल साध्य कोटि में है और साध्यत्व होने से फल के क्षय का प्रसङ्ग है। कहा भी है—"**तद्यथेह कर्मचितो लोकः क्षीयते, एवमेवामुत्र पुण्यचितो लोकः क्षीयते**" (छान्दो० ८।१।६)=जैसे लौकिक कर्म से प्राप्त लोकफल क्षीण हो जाता है वैसे वैदिक कर्म रूप पुण्य का फल भी क्षीण हो जाता है। पुनः (आवृत्तियोगात्) पुरुष का आवृत्तियोग होगा, उसे पुनर्जन्मार्थ आना होगा, अतः (अपुरुषार्थत्वम्) अपुरुषार्थता है ॥ ८२ ॥

किन्तु—

तत्र प्राप्तविवेकस्यानावृत्तिश्रुतिः ॥ ८३ ॥

(तत्र) प्रकृतिपुरुष विषय में (प्राप्तविवेकस्य) जिस विद्वान् ने विवेक प्राप्त कर लिया है उसकी (अनावृत्तिश्रुतिः) पुनर्जन्मार्थ न आने की श्रुति है—"**तपसा ब्रह्मचर्येण श्रद्धया विद्ययाऽऽत्मानमन्विष्य..... एतममृतमभयमेतत्परायणमेतस्मान्न पुनरावर्तन्ते**" (प्रश्नो० १।१०)=तप से, ब्रह्मचर्य से, श्रद्धा से, विद्या से, आत्मा को अनुभव कर साक्षात् करके अमृत=अभय मोक्ष पद को प्राप्त करते हैं, पुनर्जन्मार्थ नहीं आते ॥ ८३ ॥

विवेक के बिना तो—

दुःखाद् दुःखं जलाभिषेकवन्न जाड्यविमोक्षः[१] ॥ ८४ ॥

(दुःखात्—दुःखम्) विवेक के बिना आनुश्रविक कर्म से तो दुःख से दुःख को प्राप्त हो, एक दुःख निवृत्त हुआ तो दूसरा दुःख उपस्थित हो जाता है, उसके निवृत्त होने पर अन्य दुःख आ जाता है। इस प्रकार (जलाभिषेकवत्) जैसे जल द्वारा स्नान करने से (जाड्यविमोक्षः—न) जाड्य रोग पीड़ित का जाड्य रोग त्वचा विष्टब्ध रोग=खाल नस नाड़ी का सुकड़न रोग दूर नहीं होता या शीत पीड़ित का जाड्य=जाड़ा दूर नहीं

१. 'विमोक्षः' पाठ अनिरुद्ध का, 'विमोकः' विज्ञानभिक्षु का है।

होता, अपितु बना रहता है ॥ ८४ ॥

काम्य कर्म में सांसारिक दुःख सम्पर्क हो, न कि अकाम्य कर्म में। उस अकाम्य कर्म से मोक्ष हो सकता है, इस पर कहते हैं—

काम्याकाम्येऽपि साध्यत्वाविशेषात् ॥ ८५ ॥

(काम्याकाम्ये-अपि) विवेक बिना काम्य कर्म हो वा अकाम्य, दोनों में दुःखप्रसङ्ग है, विमोक्ष नहीं (साध्यत्वाविशेषात्) साध्य फल के अवर=आभ्युदयिक फल होने से, ऐसे फल का भी क्षय हो जाने से ॥ ८ ॥

विवेक साधन से साध्य मोक्षफल क्षय नहीं होता, यह कहते हैं—

निजमुक्तस्य बन्धध्वंसमात्रं परं न समानत्वम् ॥ ८६ ॥

(निजमुक्तस्य) स्वभाव से मुक्त पुरुष का (बन्धध्वंसमात्रं परम्) विवेक से बन्ध का नाशमात्र होता है, वही पर=अभीष्ट, अत्यन्त पुरुषार्थत्व या मोक्ष है (समानत्वं न) अन्य साध्य फलों के साथ इसकी समानता नहीं, मोक्ष का वैसा फलक्षय प्रसङ्ग नहीं है ॥ ८६ ॥

विवेक सम्पादन के लिये प्रमाण भी साधन होने से उपयुक्त है, यह कहते हैं—

द्वयोरेकतरस्य वाऽप्यसन्निकृष्टार्थपरिच्छित्तिः प्रमा,
तत्साधकतमं यत्तत्[२] त्रिविधं प्रमाणम्[३] ॥ ८७ ॥
तत्सिद्धौ सर्वसिद्धेर्नाधिक्यसिद्धिः ॥ ८८ ॥

इन दोनों की एकवाक्यता है—

(द्वयोः) प्रकृति पुरुष के विवेक के लिये (वा) अथवा (एकतरस्य-अपि) उनमें एक के भी प्रकृति या पुरुष के विवेक के लिये (असन्निकृष्टार्थपरिच्छित्तिः) अप्राप्त=अज्ञात ज्ञान से परे हुए अर्थ की परिनिष्ठा=परिज्ञान=निश्चय (प्रमा) प्रमा कहलाती है, उसकी आवश्यकता है (तत्साधकतमं यत्) उसका साधकतम=सिद्धिहेतु जो है (तत् त्रिविधं प्रमाणम्) वह तीन प्रकार का प्रमाण होता है (तत्सिद्धौ सर्वसिद्धेः) अन्य शास्त्रों में अधिक प्रमाण हों किन्तु यहाँ तीन प्रकार के प्रमाण की सिद्धि, स्वीकार या व्यवहार में प्रकृति-पुरुष के विवेकयोग्य सब बात की सिद्धि हो जाने से (आधिक्यसिद्धिः-न) तीन प्रमाण से अधिक की

२. यहाँ तक अनिरुद्धवृत्ति में पूर्व सूत्र है।

३. यहाँ तक विज्ञानभिक्षुभाष्य में पूर्व सूत्र है।

सिद्धि यहाँ सांख्यप्रक्रिया में आवश्यक नहीं ॥ ८७-८८ ॥

उन तीनों प्रमाणों का विभाग कहते हैं और एक-एक लक्षण दिखलाते हैं—

प्रथम—

यत्सम्बन्धसिद्धं[१] तदाकारोल्लेखिविज्ञानं तत्प्रत्यक्षम् ॥ ८९ ॥

(यत्सम्बन्धसिद्धम्) जिसके सम्बन्ध से सिद्ध=जिस वस्तु के सम्बन्ध से पुरुष के अन्दर प्राप्त (विज्ञानम्) जो विशिष्ट ज्ञान (तदाकारोल्लेखि) उस वस्तु के स्वरूप को दर्शानेवाला है (तत्प्रत्यक्षम्) वह प्रत्यक्ष प्रमाण है ॥ ८९ ॥

यहाँ प्रत्यक्षलक्षण में 'यत्सम्बन्धसिद्धम्' ही कहा है। पुरुष का वस्तु के साथ सम्बन्ध द्वारा प्राप्त ज्ञान प्रत्यक्ष लक्षित किया है। वह वस्तु-सम्बन्ध पुरुष का किस उपकरण के द्वारा हो यह यहाँ नहीं कहा, सो इस प्रत्यक्ष लक्षण में दोष=न्यूनत्व प्रतीत होता है।

इस भ्रान्ति को दूर कहते हैं—

योगिनामबाह्यप्रत्यक्षत्वान्न दोषः ॥ ९० ॥

(योगिनाम्=अबाह्यप्रत्यक्षत्वात्-न दोषः) योगियों का अबाह्य प्रत्यक्ष—अनिन्द्रियप्रत्यक्ष होता है, वह भी इस लक्षण में आ जावे, इसलिये इस प्रत्यक्ष लक्षण में दोष नहीं। सांसारिक जनों का बाह्य प्रत्यक्ष है, वह बाह्य इन्द्रियों द्वारा वस्तुसम्बन्ध से उत्पन्न होता है, योगियों का प्रत्यक्ष तो अबाह्यप्रत्यक्ष=भीतरी प्रत्यक्ष अन्तःकरण द्वारा वस्तुसम्बन्ध सूक्ष्म-गुप्त-दूरस्थ वस्तु से भी सम्बन्ध होने से होता है। यहाँ हमारे प्रत्यक्ष-लक्षण में '**यत्सम्बन्धसिद्धम्**'-सम्बन्ध से सिद्ध होना लक्षण तो दोनों सांसारिकों और योगियों के प्रत्यक्ष में समान है, अतः दोष नहीं है। इससे योगियों का भीतरी प्रत्यक्ष भी गृहीत हो जाता है सांख्य के इस लक्षण में।

अनिरुद्धवृत्ति और विज्ञानभिक्षुभाष्य में इससे पूर्व प्रत्यक्ष लक्षणवाले सूत्र का बाह्य प्रत्यक्षलक्षणपरक=ऐन्द्रियिक प्रत्यक्षलक्षणपरक व्याख्यान किया है। अत एव उन्होंने कहा है—"**बाह्यप्रत्यक्षलक्षणमिदं लौकिकं योगिप्रत्यक्षं तु—अबाह्यमलौकिकं च**" (अनिरुद्धः) अर्थात् बाह्यप्रत्यक्षलक्षणवाला लौकिक प्रत्यक्ष है, यह योगी का प्रत्यक्ष तो अबाह्य

१. 'यत्सम्बन्धसिद्धम्' अनिरुद्ध का 'यत् सम्बद्धं सत्' विज्ञानभिक्षु का।

और अलौकिक होता है, यह अनिरुद्ध कथन है। और "**ऐन्द्रियप्रत्यक्षमेवात्र लक्ष्यं योगिनश्चाबाह्यप्रत्यक्षकाः**" (विज्ञानभिक्षुः)=ऐन्द्रियकप्रत्यक्ष ही लक्ष्य है। योगी तो अबाह्य प्रत्यक्ष वाले होते हैं। यह विज्ञानभिक्षु का कथन है। इस प्रकार दोनों ने अन्यथा व्याख्यान किया है। पूर्व सूत्र में इन्द्रिय शब्द ग्रहण नहीं किया, किन्तु बाह्य इन्द्रिय द्वारा या अन्तःकरण के द्वारा वस्तुसम्बन्ध से सिद्ध ज्ञान प्रत्यक्ष है। यह सामान्य लक्षण 'यत्सम्बन्धसिद्धम्' पद से सूचित किया है। अतएव वहाँ पूर्व सूत्र में किए प्रत्यक्षलक्षण में दोष नहीं है, योगी के प्रत्यक्ष में भी उसकी व्याप्ति अभीष्ट होने से॥ ९०॥

और फिर—

लीनवस्तुलब्धातिशयसम्बन्धाद् वाऽदोषः॥ ९१॥

(वा) अथवा (लीनवस्तुलब्धातिशयसम्बन्धात्-अदोषः) लीन अर्थात् सूक्ष्मों, अतीन्द्रिय वस्तुओं का प्राप्त अत्यधिक, बिना रुकावट, निरन्तर आत्म्य सम्बन्ध योगियों का होने से अदोष है। जैसे योगदर्शन में कहा है—"**परमाणुपरममहत्त्वान्तोऽस्य वशीकारः**" (योग० १।४०)= परमाणु और परममहत् पर्यन्त योगी के इस चित्त का वशीकार होता है। अतः उस प्रत्यक्षलक्षण में दोष नहीं। पूर्वसूत्र में अन्तःकरण द्वारा वस्तुसम्बन्ध होने से दोष का परिहार किया। इस सूत्र में निरन्तर आत्मसम्बन्ध सिद्ध होने से निराकरण किया है, यह विशेष है।

अनिरुद्धवृत्ति और विज्ञानभिक्षु भाष्य में यहाँ प्रत्यक्षलक्षणप्रसङ्ग में नितान्त असत्य कल्पना की है। वहाँ "**योगिनामबाह्यप्रत्यक्षत्वान्न दोषः**" [९०] इस सूत्र का दोनों में पूर्व प्रत्यक्षलक्षण से भिन्नविषयक व्याख्यान किया कि पूर्व तो ऐन्द्रियिक=बाह्य इन्द्रिय से साध्य लौकिक प्रत्यक्ष का लक्षण कहा, योगियों के अबाह्य प्रत्यक्ष का नहीं—"बाह्यप्रत्यक्षलक्षणमिदं लौकिकं योगिप्रत्यक्षं त्वबाह्यमलौकिकं च अतो नाव्यापकत्वदोषः" (अनिरुद्ध)=बाह्य प्रत्यक्षलक्षण है यह लौकिक है, किन्तु योगियों का प्रत्यक्ष तो अबाह्य और अलौकिक है, अतः अव्यापकत्व दोष नहीं है। "ऐन्द्रियिकप्रत्यक्षमेवात्र लक्ष्यं योगिनश्चाबाह्यप्रत्यक्षकाः, अतो न दोषः" (विज्ञानभिक्षु)=ऐन्द्रियिक प्रत्यक्ष यहाँ लक्ष्य है। योगी अबाह्यप्रत्यक्षवाले होते हैं, अतः दोष नहीं। और फिर "**लीनवस्तुलब्धातिशयसम्बन्धाद्वाऽदोषः**" (९१) इस सूत्रप्रसङ्ग में योगियों के प्रत्यक्ष का लक्षण भी उसी

एक पूर्व सूत्र (८९) से मान लिया ''अथवा लक्षणेन योगिप्रत्यक्षस्यापि संग्रह इति पक्षान्तरमाह—लीनवस्तुलब्धातिशयसम्बन्धाद्वाऽदोषः'' (अनिरुद्ध) अथवा इस लक्षण से योगियों के प्रत्यक्ष का भी संग्रह है यह पक्षान्तर से कहता है—लीनवस्तु.....सूत्र द्वारा दोष नहीं है। तथा ''वास्तवं समाधानमाह—लीनवस्तुलब्धातिशयसम्बन्धाद्वाऽदोषः'' (विज्ञानभिक्षु)= वास्तविक समाधान कहता है ''लीनवस्तु.....'' सूत्र में।

अस्तु! क्या यह जो ''**योगिनामबाह्यप्रत्यक्षत्वान्न दोषः**'' (९०) तथा ''**लीनवस्तु-लब्धातिशयसम्बन्धाद्वाऽदोषः**'' (९१) ये दोनों सूत्र पूर्व कहे हुए ''**यत्सम्बन्धसिद्धं तदाकारोल्लेखि विज्ञानं तत्प्रत्यक्षम्**'' (८९) इस सूत्र के व्याख्यान रूप हैं, सांख्यकर्ता से भिन्न किसी व्याख्याकर्ता के हैं कि जो ''**योगिनामबाह्यप्रत्यक्षत्वान्न दोषः**'' (९१) सूत्र से असन्तोष को प्राप्त हो फिर वास्तविक समाधान ''**लीनवस्तुलब्ध.....**'' (९०) इस वचन को सामने उपस्थित करता है? क्या सूत्रकार की ओर से अवास्तविक समाधान होना चाहिए? यह शिष्टाचार या सम्यगाचार साक्षात्कर्ता ऋषियों का नहीं होता। और फिर ''**योगिनाम०**'' (९०) ''**लीनवस्तु०**'' (९१) सूत्र तो सांख्यशास्त्र के हैं न कि किसी व्याख्याकार के वचन। अतः अनिरुद्धवृत्ति और विज्ञानभिक्षु के भाष्य में यह प्रसङ्ग न समझकर अन्यथा व्याख्यात किया गया है। इसी कारण आगे ''**ईश्वरासिद्धेः**'' (९२) इस सूत्र का व्याख्यान भी अयुक्त हुआ। वस्तुतः ईश्वर-साधन के लिये ही ''**योगिनामबाह्यप्रत्यक्षत्वान्न दोषः**'' (९०) तथा ''**लीनवस्तुलब्धाति-शयसम्बन्धाद्वाऽदोष**'' (९१) इन सूत्रों से योगियों के अबाह्य प्रत्यक्ष= भीतरी प्रत्यक्ष का भी अन्तर्भाव पूर्व प्रत्यक्षलक्षण में है, यह दर्शाया गया। इसी कारण ''**यत्सम्बन्धसिद्धं तदाकारोल्लेखि विज्ञानं तत्प्रत्यक्षम्**'' (८९) सूत्र में '**यत्सम्बन्धसिद्धम्**' सामान्यलक्षणपरक पद रखा। क्योंकि ऐन्द्रियिक प्रत्यक्ष से ईश्वर की सिद्धि नहीं होती वहाँ ईश्वरासिद्धि प्रसङ्ग न हो अतएव योगिप्रत्यक्ष से उसकी सिद्धि हो सके, इसलिये प्रत्यक्ष का सामान्य लक्षण सूत्र में निर्दिष्ट किया है। '**यत्सबन्धसिद्धम्**' आत्मा का किसी उपकरण द्वारा या बिना उपकरण, जिस वस्तु के साथ सम्बन्ध से प्राप्त उसके स्वरूप का प्रकाशक ज्ञान 'प्रत्यक्ष' है। यह आश्चर्य है ''**ईश्वरासिद्धेः**'' (९२) सूत्र के अवतरण में विज्ञानभिक्षु ईश्वरसिद्धि में ऐन्द्रियिक प्रत्यक्ष के अव्यासिदोष का निराकरण करते हैं, ईश्वर का निषेध करके कि उस ईश्वर के ''**सन्निकर्षाजन्यत्वात्**'' सन्निकर्ष से

अजन्य होने से परन्तु "**सौक्ष्म्यादनुपलब्धिः**" (१०९) सूत्र में "योगजधर्मस्य चोत्तेजकतया प्रकृतिपुरुषादीनां प्रत्यक्षप्रमा भवति" (विज्ञानभिक्षुः)=योगजधर्म की उत्कृष्टता से प्रकृति-पुरुष आदि की प्रत्यक्षप्रमा होती है। यदि ऐसा है तो ईश्वरविषय में प्रत्यक्ष का अव्याप्ति परिहार व्यर्थ हुआ, क्योंकि उसकी भी योगजधर्म से प्रत्यक्ष प्रमा हो सकती है '**सन्निकर्षाजन्यत्वात्**' कथन का मूल्य न रहा॥ ९१॥

वह यह योगियों का अबाह्य प्रत्यक्ष प्रकार=भीतरी प्रत्यक्ष प्रकार अवश्य स्वीकार करना चाहिए, क्योंकि बाह्य प्रत्यक्ष से—

ईश्वरासिद्धेः॥ ९२॥

(ईश्वरासिद्धेः) ईश्वर के असिद्धिदोष प्रसङ्ग से। ईश्वर की सिद्धि बाहिरी प्रत्यक्ष इन्द्रियप्रत्यक्ष से नहीं होती। बाह्यप्रत्यक्ष का विषय ईश्वर नहीं है और श्रुति ईश्वर को प्रत्यक्ष कहती है—"**यो विद्यात् प्रत्यक्षं ब्रह्म**" (अथर्ववेद)=जो प्रत्यक्ष ब्रह्म को जानता है, "**त्वमेव प्रत्यक्षं ब्रह्मासि त्वामेव प्रत्यक्षं ब्रह्म वदिष्यामि**" (तै० उ० १।१।१)=तू ही प्रत्यक्ष ब्रह्म है तुझे ही प्रत्यक्ष ब्रह्म कहूँगा। इस प्रकार योगियों का भीतरी प्रत्यक्ष आवश्यक है। अतएव सांख्य में प्रत्यक्ष लक्षण सामान्य किया है जो योगियों के प्रत्यक्ष में भी घटता है, योगियों के भीतरी प्रत्यक्ष से ईश्वरसिद्धि हो जावेगी॥ ९२॥

यदि योगियों के भीतरी प्रत्यक्ष के बिना ईश्वर सिद्ध किया जावे तो फिर—

मुक्तबद्धयोरन्यतराभावान्न तत्सिद्धिः॥ ९३॥

(मुक्तबद्धयोः-अन्यतराभावात्) वह ऐन्द्रियिक प्रत्यक्ष से सिद्ध होने वाला ईश्वर मुक्त=जीवन्मुक्त और बद्ध से भिन्न न हो सकेगा या तो वह जीवन्मुक्त होगा या बद्ध होगा इन से अतिरिक्त नहीं। पुनः (तत्सिद्धिः—न) उस योगियों के भीतरी प्रत्यक्ष से साध्य ईश्वर की सिद्धि बाह्य प्रत्यक्ष से न होगी और योगियों का प्रत्यक्षीभूत=योगियों के प्रत्यक्ष का विषय ईश्वर है जैसे कि श्रुति उसके प्रत्यक्षत्व को कहती है॥ ९३॥

और उन दोनों जीवन्मुक्त तथा बद्ध के ईश्वर होने में—

उभयथाप्यसत्करत्वम्॥ ९४॥

(उभयथा—अपि—असत्करत्वम्) दोनों प्रकार से जीवन्मुक्त और बद्ध के ईश्वर होने में भी ईश्वर की अयोग्यता निरर्थकता है। जगद्रचनादि

कार्य में अकिञ्चित्करता है, मुक्त का प्रयोजन न होने से, बद्ध का सामर्थ्याभाव होने से॥ ९४॥

यदि लोक में कोई ईश्वर प्रत्यक्ष प्रसिद्ध हो जावे, तो—

मुक्तात्मनः प्रशंसोपासासिद्धस्य वा॥ ९५॥

(मुक्तात्मनः) जीवन्मुक्त अन्तिमदेह वाले की (वा) या (उपासा-सिद्धस्य) ध्यानोपासना से सिद्धि को प्राप्त हुए बद्ध की (जैसे आजकल जैनतीर्थङ्कर नाम से और पौराणिक अवतार नाम से प्रसिद्ध की है—ब्रह्ममुनि) प्रशंसामात्र है न कि वह वास्तविक ईश्वर है। अतः ईश्वर के प्रत्यक्षार्थ योगियों के भीतरी प्रत्यक्ष की आवश्यकता है। इसलिये यहां योगियों अयोगियों दोनों के प्रत्यक्ष का सामान्य लक्षण किया है। अतः इस प्रत्यक्ष लक्षण में दोष नहीं है॥ ९५॥

अच्छा, हो योगियों के भीतरी प्रत्यक्ष से ग्रहण होने वाला पुरुष विशेष ईश्वर "**क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वर**" (योग० १। २४)=क्लेश-कर्म-फल-वासना से सम्पर्क न रखने वाला पुरुषविशेष ईश्वर जो कि वैदिक सिद्धान्त में स्वीकार किया जाता है, परन्तु उसके नित्य=शुद्ध=बुद्ध=मुक्त=स्वभाव वाला होने से कैसे ईश्वरत्व और अधिष्ठातृत्व है? इस आकांक्षा पर कहते हैं:—

तत्सन्निधानादधिष्ठातृत्वं मणिवत्॥ ९६॥

(तत्सन्निधानात्) 'तत्' शब्द से पुरुष विशेष, ईश्वर से भिन्न प्रकृति का ग्रहण है। प्रकृति के सन्निधान से (अधिष्ठातृत्वम्) ईश्वर में अधिष्ठातृत्व, ईश्वरत्व=कर्तृत्व है (मणिवत्) मणि की भांति। जैसे लोह के सन्निधान से अयस्कान्त मणि में आकर्षण कर्तृत्व होता है। वैसे ही प्रकृति के सन्निधान से पुरुषविशेष ईश्वर में अधिष्ठातृत्व और जगत्कर्तृत्व है॥ ९६॥

इसी प्रकार:—

विशेषकार्येष्वपि जीवानाम्॥ ९७॥

(विशेषकार्येषु-अपि जीवानाम्) 'अपि' सम्भवार्थ में है। रस-रक्त-मांस-मेद-अस्थि-मज्जा-शुक्र आदि की रचना और परिपाक तथा प्राणसंचार इस नैसर्गिक कार्य को छोड़कर विशेष भिन्न-भिन्न कार्यों में सन्निधान से जीवों का भी अधिष्ठातृत्व होता है। जैसे मिट्टी के सन्निधान से घड़ा बनाना, अन्नसन्निधान से भोजन पकाना, रूई सन्निधान से वस्त्र बुनना, एवं प्राणिमात्र का अपने-अपने भोजन की खोज करना, यथानुकूल

यथासम्भव अपना-अपना घोंसला, बिल, घर आदि बनाना, उस-उस साधन वस्तु के सन्निधान से होता है ॥ ९७ ॥

अच्छा, हो प्रकृति के सन्निधान से ईश्वर का अधिष्ठतृत्व प्रकृति को जगत् रूप में परिणत करने को, परन्तु सर्गारम्भ में जीवात्माओं के अन्तःकरण में वेदवाक्यार्थोपदेश और उनके लिये कर्मफलप्रदान ईश्वर कैसे करता है ? इसके सम्बन्ध में दो सूत्रों में कहते हैं:—

सिद्धरूपबोद्धृत्वाद् वाक्यार्थोपदेशः ॥ ९८ ॥

अन्तःकरणस्य तदुज्ज्वलितत्वाल्लोहवदधिष्ठातृत्वम् ॥ ९९ ॥

इन दोनों सूत्रों की एकवाक्यता है—

(सिद्धरूपबोद्धृत्वात्) यहां सिद्ध शब्द नित्य के अर्थ में है। नित्य शुद्धबुद्धमुक्तस्वभाव पुरुष है, उसके नित्यबुद्धस्वरूप होने से, स्वरूपतः बोधक होने से (वाक्यार्थोपदेशः) वेदवाक्यार्थ का उपदेश जीवात्माओं के अन्तःकरण में हो सकता है, (अन्तःकरणस्य तदुज्ज्वलितत्वात्) जीवात्माओं का अन्तः-करण उस ईश्वर से प्रकाशित होने से, ज्ञान प्रकाश से विकसित हो जाने से (लोहवत्-अधिष्ठातृत्वम्) अन्तःकरण उसके द्वारा प्रकाशित होने से ही जीवात्माओं को कर्मफल देने के लिये उसका अधिष्ठातृत्व भी है। जैसे कहा है—"**जीवेनात्मनानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणीति**" (छान्दो० ६। ३। २) जीवात्मा के साथ ईश्वर भी अनुप्रविष्ट होकर नाम और रूप प्रकट करता है। वह अधिष्ठातृत्व लोहवत् है, जैसे अग्नि से प्रकाशित हो जाने पर लोहे में अधिष्ठातृत्व है, अग्नि लोहे को नमा देती है, वैसे ही ईश्वर जीवात्माओं के अन्तःकरण को कर्म की ओर झुका देता है ॥ ९८, ९९ ॥

प्रत्यक्षप्रमाण का विषय समाप्त हुआ। योगियों के भीतरी प्रत्यक्ष से और सूक्ष्म वस्तु से भी अतीव सम्बन्ध होने से ईश्वर का योगी द्वारा प्रत्यक्ष विषय होना सिद्ध कर दिया और प्रकृति तथा जीवात्माओं में उसका अधिष्ठातृत्व व्यवस्थापित कर दिया, अब उसके आगे शेष प्रमाण प्रस्तुत किया जाता है—

प्रतिबन्धदृशः प्रतिबद्धज्ञानमनुमानम् ॥ १०० ॥

(प्रतिबन्धदृशः) बन्ध-बन्ध के प्रति=सम्बन्ध-सम्बन्ध के प्रति वर्तमान जो लिङ्ग=धर्म है, वह प्रतिबन्ध=अनिवार्यसम्बन्ध=अविना-भावसम्बन्ध। उसको देखने वाले का (प्रतिबद्धज्ञानम्—अनुमानम्)

अनिवार्यसम्बन्धज्ञान=अविनाभावसम्बन्धज्ञान=नियतसम्बन्धज्ञान=उन-उन स्थलों में उन-उन जैसे पदार्थों में जो व्याप्तिज्ञान है या उसका दर्शन है, वह अनुमान प्रमाण है। दूसरे शास्त्र में प्रसिद्ध पूर्ववत्, शेषवत्, सामान्यतो दृष्ट "**अथ तत्पूर्वकं त्रिविधमनुमानं पूर्ववच्छेषवत्सामान्यतो दृष्टं च**" (न्याय० १।१।५) तथा "अनुमेयस्य तुल्यजातीयेष्वनुवृत्तो भिन्नजातीयेभ्यो व्यावृत्तः सम्बन्धो यस्तद्विषया सामान्यावधारणप्रधाना वृत्तिरनुमानम्" (योग० १। ७ व्यासः)। योगदर्शन के इस व्यासभाष्य में कहा कि अनुमेय धर्म का तुल्यजातीय पदार्थों में पाया जाना, भिन्नजातीय पदार्थों से अलग होना, उनमें न पाया जाना जो सम्बन्ध है, उसे लेकर सामान्य निश्चय-प्रधानवृत्ति अनुमान है। उदाहरण—पर्वत पर अग्नि है, धुएं के कारण। जैसे रसोई में धुआं अग्नि होने से उठता है। जहां-जहां धुआं वहां-वहां अग्नि, अतः पर्वत पर अग्नि है॥ १००॥

आप्तोपदेशः शब्दः॥ १०१॥

(आप्तोपदेशः) समस्त ज्ञान को प्राप्त सर्वज्ञ ईश्वर का उपदेश या सर्गारम्भ में अग्नि आदि महर्षियों के अन्तरात्मा में आप्त=प्राप्त=आविष्ट हुआ वेद, तथा आप्त=साक्षात्कृतधर्मा विद्यानिष्णात का उपदेश (शब्दः) शब्द प्रमाण है॥ १०१॥

उभयसिद्धिः प्रमाणात् तदुपदेशः॥ १०२॥

(उभयसिद्धिः प्रमाणात्) प्रकृति, पुरुष दोनों की सिद्धि प्रमाण से होती है। अतः (तदुपदेशः) प्रमाण का उपदेश किया गया है। दोनों की सिद्धि तीनों प्रमाणों से कैसे होती है इसका विवरण करते हैं—प्रकृति पुरुष के लिये प्रत्यक्ष प्रमाण, तो योगियों का भीतरी प्रत्यक्ष अन्तःकरण द्वारा तथा सूक्ष्मवस्तु से भी स्वान्तरात्मा द्वारा सम्बन्ध होने से होता है, जैसा कि पूर्व प्रत्यक्षलक्षण प्रकरण में कहा गया है—"**यत्सम्बन्धसिद्धं तदाकारोल्लेखिविज्ञानं तत्प्रत्यक्षम्**" (८९) यहां न्यायशास्त्र की भांति [**'इन्द्रियार्थसन्निकर्षः'**] प्रत्यक्ष का लक्षण नहीं कहा किन्तु 'यत्सम्बन्ध-सिद्धम्' कहा है। योगियों का प्रत्यक्ष भी उस प्रत्यक्षलक्षण में अन्तर्भूत हो जाता है, अतः प्रकृति, पुरुष की सिद्धि में प्रत्यक्ष प्रमाण भी साधक है। **अनुमान**—महत्तत्त्वादिक कार्य है, कार्य उपादान और निमित्त कारण से होता है, घड़े की भांति। जैसे घड़े का उपादान कारण मिट्टी और निमित्त कारण कुम्हार होता है इसी प्रकार यहां भी प्रकृति उपादान कारण और पुरुषविशेष ईश्वर निमित्त कारण अनिवार्य है। और "**कारणगुण**-

पूर्वकः कार्यगुणो दृष्टः'' (वैशेषिक० २।१।२४)=कारण के गुणानुसार कार्य के गुण होते हैं, कारण के गुण कार्य में होते हैं। कार्य त्रिगुणात्मक सत्त्वगुण, रजोगुण, तमोगुणरूप है, अतः त्रिगुणात्मक=सत्त्वगुण, रजोगुण, तमोगुण रूप प्रकृति उपादान कारण है। ''**अचाक्षुषाणामनुमानेन बोधः**'' (सांख्य० १।६०) इस सूत्र में प्रकृति और पुरुष के बोधार्थ अनुमान प्रकरण चल रहा है, फिर ''**संहतपरार्थत्वात् पुरुषस्य**'' (सांख्य० १।६६) इस सूत्र में भी है कि संहत के परार्थ होने से इस अनुमान द्वारा पुरुष का बोध होता है। महत्तत्त्व आदि संहत है और वह परार्थ है, घट शय्या आदि के समान। पर है पुरुष। इस प्रकार अनुमान प्रमाण पुरुषसिद्धि में और शब्द प्रमाण ''**द्यावाभूमी जनयन् देव एकः**'' (यजु० १७।१९) यह पुरुषविशेष ईश्वर में शब्दप्रमाण है। ''**त्यक्तेन भुञ्जीथाः**'' (यजु० ४०।१) यह भोक्ता पुरुष में प्रमाण है। ईश्वर जीव में शब्दप्रमाण ''**बालादेकमणीयस्कमुतैकं नैव दृश्यते। ततः परिष्वजीयसी मम प्रिया देवता॥ इयं कल्याण्यजरा मर्त्यस्यामृता गृहे। यस्मै कृताशये स यश्चकार जजार सः॥**'' (अथर्व० १०।८।२५, २६) यहां मन्त्रों में कहा गया है आत्मा बाल से भी सूक्ष्म है और परमात्मा नहीं दीखता। जैसा है आत्मा में लगाव का धर्म है, यह अजर अमर है, मरणधर्मी शरीर में है। प्रकृति के लिये शब्द प्रमाण—''**तुच्छ्येनाभ्वपिहितं यदासीत् तन्महिना जायतैकम्**'' (ऋ० १०।१२९।३) 'आभु' प्रकृति कारण वस्तु जिससे ''**इयं विसृष्टिर्यत आबभूव**'' (ऋ० १०।१२९।७) जिस से यह विविध सृष्टि प्रकट हुई, यह निर्देश 'आभु' के लिये है। तथा ''**अजामेकां लोहित-शुक्लकृष्णां बह्वीः प्रजाः सृजमाना सरूपाः**'' (श्वेता० ४।५) इससे अजन्मा सत्त्वगुण, रजोगुण, तमोगुण प्रकृति दर्शाई है। और भी ''**एकं 'बीजं' बहुधा यः करोति**'' (श्वेता० ६।१२) यहां बीज शब्द से प्रकृति लक्षित है। अब ईश्वर, जीव, प्रकृति तीनों के लिये शब्दप्रमाण—''**द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते। तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्न्योऽभिचाकशीति॥**'' (ऋ० १।१६४।२०) यहां 'द्वा सुपर्णा'—दो पक्षी तथा 'अन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति'=एक फल खाता है 'अनश्नन्न्योऽभिचाकशीति'=दूसरा केवल साक्षी है। इस कथन से ईश्वर और जीव सूचित किए हैं। तथा 'समानं वृक्षम्'=समान वृक्ष कथन से प्रकृति लक्षित है। अतः प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द तीनों प्रमाणों से प्रकृति और पुरुष की सिद्धि होती है, सूत्र में ऐसा कहना भली प्रकार ठीक है॥

१०२ ॥

और फिर—

सामान्यतो दृष्टादुभयसिद्धिः ॥ १०३ ॥

(सामान्यतः—दृष्टात्—) सामान्यदृष्ट सम्बन्ध से "**संहतपरार्थत्वात् पुरुषस्य**" (सांख्य १। ६६)=संहत-मिली हुई वस्तु परार्थ=अपने से भिन्न के लिए होती है। इस सामान्य युक्ति के दृष्ट व्यवहार से (उभयसिद्धिः) दोनों भोक्ता और भोग्य की सिद्धि होती है। महत्तत्त्व आदि भोग्य है, संहत परार्थ होने से शय्या आदि के समान। जैसे शय्या आदि संहत है वह परार्थ है। पर है पुरुष=भोक्ता जिसके लिए भोग्य है महत्तत्त्व आदि। अतः भोक्ता और भोग्य की सिद्धि है। अन्य भाष्यकार इस सूत्र का प्रकृति-पुरुष की सिद्धि अनुमान प्रमाण के एकांश को लेकर अर्थ करते हैं, यह ठीक नहीं। यदि ऐसा ही होता है तो अनुमान प्रमाण का लक्षण करने के अनन्तर शब्द प्रमाण से पूर्व इस सूत्र की रचना होनी चाहिए। तथा "**चिदवसानो भोगः**" (१०४) भोगविषयक इस अगले अनन्तर सूत्र के साथ इसकी सङ्गति भी हमारे अर्थ हैं। वह भी हमारे अर्थ की पोषिका है ॥ १०३ ॥

हो महत्तत्त्व आदि भोग्य, परन्तु पुरुष तो नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त-स्वभाव होता हुआ वह कैसे भोक्ता होगा ? इस पर कहते हैं कि जिससे—

चिदवसानो भोगः ॥ १०४ ॥

(चिदवसानः—भोगः) चेतन से=पुरुष से अवसान=अवस्थान जिसका है, वह ऐसा भोग है=भोग चेतन-पुरुष के लिए है। भोग्य जड़ होता है, चेतन के लिए। चेतन में ही भोग अवस्थित होता है, अतः चेतनपुरुष भोक्ता है उससे भिन्न भोग्य है ॥ १०४ ॥

चेतन पुरुष भोक्ता हो यदि वह कर्ता हो। जो 'कर्ता से भोक्ता' यह प्रसिद्धि है, परन्तु वह तो नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्तस्वभाव है, कैसे वह कर्ता ? पुनः कर्ता के बिना कैसे भोगप्राप्ति ? यह कहते हैं दो सूत्रों द्वारा:—

अकर्तुरपि फलोपभोगोऽन्नाद्यवत् ॥ १०५ ॥

अविवेकाद्वा तत्सिद्धेः कर्तुः फलावगमः ॥ १०६ ॥

इन दोनों सूत्रों की साथ व्याख्या करते हैं:—

(अकर्तुः—अपि) अकर्ता का भी (फलोपभोगः) फलोपभोग होता है=भोक्तृभाव होता है (अन्नाद्यवत्) खाने योग्य अन्न=पके भोजन

की भांति। जैसे भोजन=पाककर्ता द्वारा पका भोजन अकर्ता स्वामी के लिए भोग बनता है वैसे ही नित्य शुद्धबुद्धमुक्तस्वभाव पुरुष का शुद्धबुद्ध-मुक्तस्वभाव न नित्य रखनेवाले पदार्थ भोग और पुरुष भोक्ता हो सके। जैसे योग दर्शन के भाष्य में व्यास ने भी कहा है—"क्लेशकर्मादयः मनसि वर्तमानाः पुरुषे व्यपदिश्यन्ते स हि तत्फलस्य भोक्तेति यथा जयः पराजयो वा योद्धृषु वर्तमानः स्वामिनि व्यपदिश्यते" (योग० १।२४)= क्लेश, कर्म आदि मन में वर्तमान होते हुए पुरुष में व्यवहार पाते हैं, जैसे जय-पराजय योद्धाओं में होता हुआ स्वामी राजा में व्यवहृत होता है (वा) अथवा (अविवेकात्—तत्सिद्धेः) अविवेक से पुरुष की कर्तृत्व-सिद्धिः अर्थात् जब तक विवेक न हो तब तक एक तो कर्ता है ही, विवेक से पूर्व तो पुरुष कर्ता है ही, अतः (कर्तुः फलावगमः) कर्ता पुरुष को फलप्राप्ति= भोगप्राप्ति होती है॥ १०५, १०६॥

और फिर—

नोभयं च तत्त्वाख्याने॥ १०७॥

(तत्त्वाख्याने) विवेक से साक्षात्कार=यथार्थदर्शन हो जाने पर (उभयं च न) दोनों कर्तृत्व और भोक्तृत्व नहीं होते, 'च' से भोग्य भी उसके सम्मुख अवस्थित नहीं होता॥ १०७॥

ऐन्द्रियिक प्रत्यक्ष से प्रकृति-पुरुष की उपलब्धि क्यों नहीं होती, यह दर्शाने को सब के विषय में ऐन्द्रियिक प्रत्यक्ष के बाधक गिनाए जाते हैं:—

विषयोऽविषयोऽप्यतिदूरादेर्हानोपादानाभ्यामिन्द्रियस्य॥ १०८॥

(विषयः—अविषयः—अपि) विषय=भावरूप पदार्थ अनिन्द्रिय विषय भी हो जाता है (अतिदूरादेः) अतिदूरता आदि के कारण। आदि से अतिसमीपता, मध्य में रुकावट आजाने, मन के अस्थिर होने, सूक्ष्मता और दूसरे से अभिभूत होजाने के कारण (इन्द्रियस्य हानोपादानाभ्याम्) इन्द्रिय के हान=विकार=घात से तथा उपादान=ऊपर से अन्य इन्द्रिय के प्रभाव से भी विषय अविषय हो जाता है॥ १०८॥

प्रस्तुत इन बाधकों में क्या बाधक है प्रकृति-पुरुष की उपलब्धि में? यह कहते हैं:—

सौक्ष्म्यात् तदनुपलब्धिः॥ १०९॥

(तदनुपलब्धिः) प्रकृति-पुरुष की अनुपलब्धि=ऐन्द्रियिक प्रत्यक्ष

से अप्राप्ति (सौक्ष्म्यात्) उन दोनों के सूक्ष्म होने से है। योगियों के अध्यात्मप्रत्यक्ष से दोनों की उपलब्धि होती ही है, ऐसा विज्ञानभिक्षुभाष्य में भी कहा है—"योगजधर्मस्य चोत्तेजकतया प्रकृतिपुरुषादीनां प्रत्यक्षप्रमा भवति"॥ १०९॥

प्रकृतिपुरुष की अनुपलब्धि सूक्ष्मता को आश्रित करके कैसे स्वीकार करते हो? उनकी सूक्ष्मता में अर्थात् वे सूक्ष्म हैं, इस में क्या प्रमाण है? यह कहते हैं—

कार्यदर्शनात् तदुपलब्धिः॥ ११०॥

(कार्यदर्शनात्) उपलब्ध होने वाला जगत् स्थूल दीखता है उस कार्य=स्थूल जगत् के दर्शन से (तदुपलब्धिः) उन प्रकृति-पुरुष की उपलब्धि होती है क्योंकि स्थूल का पूर्वरूप या स्थूल से पूर्वसत्तावाला सूक्ष्म होता है, तथा स्थूलत्वरूप देने वाला पुरुषविशेष ईश्वर या उसका भोगने वाला पुरुष जीवात्मा चेतन होता है। अतः प्रकृति-पुरुष की सूक्ष्मता स्थूल कार्यजगत् से स्पष्ट होती है॥ ११०॥

यहां शंका करते हैं—

वादिविप्रतिपत्तेस्तदसिद्धिरिति चेत्॥ १११॥

(वादिविप्रतिपत्तेः) कार्यदर्शन से कहते हो, कैसे कार्यदर्शन से सूक्ष्मकारण का अनुमान करते हो? क्यों नहीं शून्य का अनुमान करते हो? क्यों नहीं शून्य का अनुमान कर लिया जावे? "**शून्यं तत्त्वं वस्तुधर्मत्वाद् विनाशस्य**"=जो-जो कार्यवस्तु है वह-वह विनाशधर्मी है, अतः कार्यदर्शन से शून्य का अनुमान करना चाहिए। इस वादी विप्रतिपत्ति से (तदसिद्धिः) उन प्रकृति-पुरुष की असिद्धि है (इति चेत्) ऐसा कहा जावे तो—॥ १११॥

समाधान करता है—

तथाप्येकतरदृष्ट्याऽन्यतरसिद्धेर्नापलापः॥ ११२॥

(तथा—अपि—एकतरदृष्ट्या) कार्य वस्तु की विनाशदृष्टि से शून्यत्व=साधने में (अन्यतरसिद्धेः) कार्यवस्तु के सूक्ष्मीभूत कारण वस्तु की सिद्धि होती है (न-अपलापः) उसका अपलाप नहीं, क्योंकि जैसे ही कार्यवस्तु का विनाश धर्म है यह एकतरदृष्टि है, तथा कार्यवस्तु का सूक्ष्मीभाव धर्म अन्यतर दृष्टि है। वस्तुतः वस्तु का विनाश उसका सूक्ष्मीभाव ही कण-कण करके हो जाता है न कि सर्वथा नाश, अतः सूक्ष्मीभाव ही

कारण समरूप है।

और भी—

त्रिविधविरोधापत्तेश्च ॥ ११३ ॥

(त्रिविधविरोधापत्तेः-च) तथा वादिपक्ष में त्रिविधविरोध आ पड़ता है। क्योंकि विनाश ही कार्य का धर्म नहीं किन्तु उत्पत्ति, स्थिति, विनाश ये तीन धर्म कार्य के हैं। इन तीनों धर्मों से विरोध आ पड़ता है यदि शून्य को कारण माना जावे, जो विनाश धर्म पर अवलम्बित किया है। कारण ऐसा होना चाहिए जिससे कार्य के उत्पत्ति, स्थिति, विनाश तीनों धर्म नियमित रहें। वैसा तो निमित्त-कारण पुरुषविशेष ईश्वर है। कहा भी है—"**यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति तद्विजिज्ञासस्व तद्ब्रह्म ॥**" (तै० उ० ३। १) अर्थात् जिससे ये भूत उत्पन्न हुए, जिसके द्वारा उत्पन्न हुए, स्थिर रहते हैं और जिसको प्राप्त होते हैं, जिस में प्रवेश करते हैं, वह जानने योग्य है, वह ब्रह्म है। "**जन्माद्यस्य यतः**" (वेदा० १। १। २)=जिससे उत्पत्ति आदि इस जगत् की होती है, वह ब्रह्म है। तथा कार्य में सत्त्व, रज, तम तीन धर्म अवस्थित हैं। तब उसका ऐसा उपादान कारण होना चाहिए जिस में सत्त्वगुण, रजोगुण, तमोगुण तीनों विद्यमान हों। वैसा उपादान कारण प्रकृति है, पूर्व कहा है—"**सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः**" (सांख्य १। ६१)। श्रुति में भी "**अजामेकां लोहित-शुक्लकृष्णां बह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः**" (श्वेता० ४। ५)=प्रकृति ही सत्त्वरजस्तमोगुण-मयी है, शून्य तो सर्वधर्मशून्य है, अतः विरोध आता है। इसलिये कार्यरूप जगत् का सत्तात्मक कारण होना चाहिए न कि शून्य॥ ११३॥

क्योंकि—

नासदुत्पादो नृशृङ्गवत् ॥ ११४ ॥

(असदुत्पादः-न) असत् का=अभाव का उत्पाद नहीं होता (नृशृङ्गवत्) नृशृङ्ग की भांति, सत् की उत्पत्ति होती है=सत् ही उद्भव होता है, अभिव्यक्त होता है, अभिव्यक्ति को प्राप्त होता है; असत् नहीं। अतः सद्रूपता से कार्य स्वकारण में अवस्थित रहता है॥ ११४॥

हेतु देता है—

उपादाननियमात् ॥ ११५ ॥

(उपादानयिमात्) उपादान का नियम होने से असत् का उत्पाद

नहीं होता है। जो-जो उत्पन्न होता है वह-वह उपादान के नियम से। जिस उत्पन्न होने वाले का जैसा उपादान होता है वैसा वह उत्पन्न होता है। मिट्टी में या मिट्टी से घड़ा तन्तुओं में या तन्तुओं से वस्त्र, इत्यादि उपादान नियम है॥ ११५॥

क्योंकि—

सर्वत्र सर्वदा सर्वासम्भवात्॥ ११६॥

(सर्वत्र सर्वदा सर्वासम्भवात्) सब स्थान में, सब काल में, सब के न उत्पन्न होने से। उपादान का नियम न हो, तो सब स्थान में, सब काल में, सब वस्तुओं की उत्पत्ति हुआ करे, वैसा है नहीं। अतः उपादान का नियम होने से असत् उत्पन्न नहीं होता॥ ११६॥

और फिर—

शक्तस्य शक्यकरणम्॥ ११७॥

(शक्तस्य शक्यकरणम्) शक्त शक्य को करता है। वह शक्य उस शक्त के अन्दर पूर्व से विद्यमान होना सम्भव है। वह पूर्व से विद्यमान शक्य अव्यक्त हुआ रहता है, वही अभिव्यक्त होता है, अतः असदुत्पाद नहीं होता॥ ११७॥

असदुत्पाद नहीं होता, इस में दूसरा हेतु—

कारणभावाच्च॥ ११८॥

(कारणभावात्—च) तथा कार्य में कारण का भाव होने से, कारण के उपलब्ध होने से भी, उपलब्ध होता है कार्य में कारण। जैसे, घड़े में मिट्टी और वस्त्र में तन्तु। इसी प्रकार घड़े का मिट्टी से और वस्त्र का तन्तुओं से अभेद है ही। इसी प्रकार कार्य में कारण के अभेद से तथा कारण में भाव=विद्यमानत्व जिसका है ऐसे कार्य से कार्य के कारण में अव्यक्तरूप से विद्यमान होने से भी असदुत्पाद नहीं। कहा भी है—"**तुच्छ्येनाभ्वपिहितं यदाऽसीत्तपसा तन्महिना जायतैकम्**" (ऋ० १। १२९। २)=तुच्छ रूप से जो 'आभु' अव्यक्त छिपा था, वह महत्तत्वरूप से एक उत्पन्न हुआ। "**तद्धेदं तर्ह्यव्याकृतमासीत्**" (बृह० १। ४। ७)= यह जगत् अव्यक्तरूप था। "**सदेव सोम्येदमग्र आसीत्**" (छान्दो० ६। २। १)=पहले सत् ही था। "**नासतो विद्यते भावो०**" (गीता० २। १६)=असत् का उत्पाद नहीं होता है॥ ११८॥

यहां शङ्का करते हैं—

भावे भावयोगश्चेन्न वाच्यम्॥ ११९॥

(भावे) कारणरूप भाव में (भावयोगः-चेत्) कार्यरूप भाव का योग=विद्यमानत्व यदि है, तब (न वाच्यम्) कार्य के उत्पाद-अनुत्पादविषय में न कहना चाहिए अथवा कार्य उत्पन्न हुआ या न उत्पन्न हुआ, न कहना चाहिए॥ ११९॥

समाधान करते हैं—

नाभिव्यक्तिनिबन्धनौ व्यवहाराव्यवहारौ॥ १२०॥

(न) यह ठीक नहीं कहा। क्योंकि (अभिव्यक्तिनिबन्धनौ व्यवहाराव्यवहारौ) कार्यवस्तु के अभिव्यक्तिनिमित्तक व्यवहार-अव्यवहार हैं। गुप्त रूप में रहता हुआ कार्य जब अभिव्यक्तता को प्राप्त होता है=प्रकट होता है, तब 'उसका उत्पाद' ऐसा कहा जाता है। जब अभिव्यक्तता को प्राप्त नहीं होता है, तब उसका 'अनुत्पाद' कहा जाता है। जैसे, तिलों में तैल होता हुआ पीडन से अभिव्यक्त होता है। अभिव्यक्ति को आश्रित कर उसके प्रयोग व्यवहार-अव्यवहार होते हैं। अतः कारण में कार्य के विद्यमान होने में दोष नहीं॥ १२०॥

और भी—

नाशः कारणलयः॥ १२१॥

(नाशः कारणलयः) जो वह नाश=विनाश "**शून्यं तत्त्वं भावो विनश्यति वस्तुधर्मत्वाद् विनाशस्य**" [४४] वचन से वादी ने शून्य-साधने को नाश=सर्वथा अभाव नहीं किन्तु कारणलय=कार्य वस्तु का कारण में अन्तर्धान या कार्य का सूक्ष्मीभाव ही कारणभाव है, अतः पूर्व से चला शून्यवाद निराकृत होगया॥ १२१॥

यदि नाश, सर्वथा नाश=सर्वथा अभाव नहीं, किन्तु अभिव्यक्ति को प्राप्त हुए या व्यक्त कार्यवस्तु का कारण में लय=सूक्ष्मीभाव=अव्यक्तभाव और फिर वैसे ही अव्यक्तरूप सूक्ष्म का कोई पूर्व पदार्थ अभिव्यक्ति-हेतु, पुनः उसका भी अभिव्यक्ति-हेतु अन्य पर पदार्थ हो, यह अनवस्थादोष आजावे। इस पर कहते हैं—

पारम्पर्यतोऽन्वेषणा * बीजाङ्कुरवत्॥ १२२॥

(पारम्पर्यतः) पर है अवर से। पुनः उस पर से पर, पर से पर, इस

---

* 'अन्वेषणा' विज्ञानभिक्षु का पाठ है, 'अन्वेषणात्' अनिरुद्ध का है।

प्रकार पारम्पर्य तो प्रारम्भसर्ग है। उस पारम्पर्य से प्रारम्भसर्ग में पहुँच कर (अन्वेषणा बीजाङ्कुरवत्) बीजाङ्कुर की भांति अन्वेषणा माननी चाहिए। जैसे बीज में अङ्कुर अभिव्यक्त होता है और अङ्कुर से फिर बीज की अभिव्यक्ति होती है, इस प्रकार परम्परा में आदिसर्ग में वृक्ष जब नहीं थे तब उनकी बीजशक्ति होनी ही चाहिए। जैसे तब बीज पूर्व, अङ्कुर पश्चात् हुआ। उसी प्रकार व्यक्तकार्यवस्तु से पूर्व अव्यक्त भाव, फिर बीज में अङ्कुर अव्यक्तरूप से उपलब्ध होता है। उसी भांति कार्यवस्तु भी अव्यक्त रूप से कारण पदार्थ से होती है, यह मानना चाहिए।

इस सूत्र पर अनिरुद्धवृत्ति और विज्ञानभिक्षु भाष्य में युक्तिविरुद्ध कहा है कि कार्य की अभिव्यक्ति की अभिव्यक्ति अन्य, यह अनवस्थादोष दिखलाया परन्तु ऐसी परम्परा-अनवस्था की आशङ्का यहां सूत्र में नहीं है, किन्तु यहां सूत्र में तो "**नाशः कारणलयः**" (सांख्य० १।१२१) इस पूर्व सूत्र से कारणपरम्परा की आशङ्का अभीष्ट है कि कार्य की अभिव्यक्ति कारण से होती है। पुनः उस कारण की अभिव्यक्ति किस से? इस प्रकार कारणपरम्परा की आशङ्का में सूत्र का तात्पर्य है। वैसे ही बीजाङ्कुरवत् कारणपरम्परा से उदाहरण दिया है॥ १२२॥

अन्य हेतु कहते हैं—

उत्पत्तिवद् वाऽदोषः॥ १२३॥

(वा) अथवा (उत्पत्तिवत्—अदोषः) उत्पत्ति की भांति अदोष है। जैसे उत्पत्तिवाद में कार्य की उत्पत्ति कारण से होती है, कारण से कार्य उत्पन्न होता है, वहां उत्पत्ति के कारण की पूर्वता सिद्ध होती है। वैसे यहां अभिव्यक्तिवाद में भी कार्य की अभिव्यक्ति कारण से होती है, क्योंकि कारण में कार्य अनभिव्यक्त रूप में रहता है, उसका अनभिव्यक्त स्वरूपवाला कारण होता है। अतः दोष नहीं है॥ १२३॥

अच्छा, हां जो अभिव्यक्त है वह कार्य, जिस से अभिव्यक्त हो वह कारण, तथापि कार्य का विशिष्ट स्वरूप क्या है जिससे उसका ज्ञान सुगमता से हो सके? इस आकांक्षा पर कहते हैं—

हेतुमदनित्यं * सक्रियमनेकमाश्रितं लिङ्गम्॥ १२४॥

(लिङ्गम्) लिङ्गित=अनुमित कारण जिस से हो वह लिङ्ग कार्य

---

* यह सूत्रपाठ अनिरुद्धवृत्ति का, 'अव्यापि' अधिकपाठ विज्ञानभिक्षु का है।

है और वह (हेतुमत्) सहेतुक=कारण वाला=कारणानुसारी तथा किसी हेतुवश हो=भोग हेतुक भोगार्थ हो (अनित्यम्) नश्वर (सक्रियम्) क्रिया से निष्पन्न होने वाला=निमित्तकारण चेतन द्वारा स्वकारण जड़ में प्रसारित क्रिया से उत्पन्न हुआ तथा विकाररूप क्रिया से निरन्तर युक्त (अनेकम्) कालभेद से, देशभेद से, आश्रयभेद से अनेक संख्यायुक्त या बहुरूप (आश्रितम्) अपने कारण में रखा हुआ=स्वकारणाश्रित हो॥ ११४॥

लिङ्ग का=कार्य का स्वरूप कह दिया। अब जिस कारण का कार्य है उस कार्य से उसके कारण का अनुमान दर्शाते हैं—

आञ्जस्यादभेदतो वा गुणसामान्यादेस्तत्सिद्धिः प्रधानव्यपदेशाद्वा॥ १२५॥

(आञ्जस्यात् तत्सिद्धिः) अनायास से=व्यक्त-स्पष्ट प्रकट होने से कारण की सिद्धि होती है, जो कार्यवस्तु होती है वह स्वतः अपने कारण को प्रदर्शित करती है क्योंकि कारणवस्तु के क्रमविशेष में संस्थान ही कार्य है। जैसे तन्तु कारण पदार्थ तान-वितान क्रम से अवस्थित हुए वस्त्ररूप का कार्य है। तन्तुओं में रुई के रुएँ संस्थित हैं, घड़े में मिट्टी के अंश स्पष्ट हैं। ऐसे ही कार्यरूप जगत् से भी अनायासतः कारणरूप प्रकृति की सिद्धि होती है (वा) अथवा (गुणसामान्यादेः—अभेदतः) अगले सूत्र में कहे जानेवाले गुणसामान्य, कर्मसामान्य, स्वभावसामान्य के एक जैसा पाए जाने से भी कारण की सिद्धि होती है। क्योंकि "**कारणगुणपूर्वकः कार्यगुणो दृष्टः**" (वैशे० २।१।२४) कारणगुणों के अनुसार कार्य के गुण होते हैं। कार्य के विशिष्ट गुण भी होते हैं, वह पूर्व सूत्र में दिखला दिए हैं=कार्यस्वरूपप्रसङ्ग में। परन्तु कुछ गुण कार्य में कारण के समान होते है उन से भी कारण का अनुमान होता है, कार्य कारण में उनकी समान स्थिति होती है। उन ऐसे गुणों से कारण का अनुमान होता है, जैसे लाल तन्तुओं का वस्त्र लाल होता है, मीठे रस का पाक मीठा होता है, ऐसे ही यहां भी जानना चाहिए। वे समानगुण आदि, महत्तत्त्व आदि कार्यरूप जगत् और प्रकृति में रहनेवाले अगले सूत्र में कहे हैं—"**त्रिगुणचेतनत्वादि द्वयोः**" [१२६] (प्रधानव्यपदेशात्—वा) तथा प्रधान शब्द के व्यवहार से भी प्रकृति-सिद्धि होती है। प्रधान जिससे प्रारम्भ हो व्यक्तिरूप वह प्रधाननामा शास्त्रों में आने से भी प्रकृति कारण की सिद्धि होती है तथा कार्यवस्तु का प्रकृष्ट आधान आश्रय होने के गुण से भी प्रधान नाम है॥ १२५॥

पूर्वोक्त प्रकृति और कार्य में—

त्रिगुणाचेतनत्वादि द्वयोः ॥ १२६ ॥

(त्रिगुणाचेतनत्वादि) त्रिगुणत्व=सत्त्वरजस्तमोमयत्व, अचेतनत्व=जडत्व और आदि शब्द से पदार्थत्व=पुरुषप्रयोजनार्थत्व और परिणाम को प्राप्त होना (द्वयोः) उन दोनों प्रकृति और कार्य में समान हैं ॥ १२६ ॥

यहां त्रिगुणत्व विषय में—**प्रीत्यप्रीतिविषादाद्यैर्गुणानामन्योऽन्यं वैधर्म्यम्।(१२७) लघ्वादिधर्मैः साधर्म्यं वैधर्म्यं च गुणानाम्।(१२८)**

विवेचन—दोनों सूत्रों में ''वैधर्म्यम्'' पद देखकर विज्ञानभिक्षु उत्तर सूत्र पर कहते हैं कि यहां वैधर्म्य पाठ प्रामादिक है। स्वामी तुलसीराम तो दोनों सूत्रों में ''गुणानाम्'' पद देखकर लिखते हैं कि उत्तर सूत्र में 'गुणानाम्' पाठ व्यर्थ है, दोनों पाठों में पुनरुक्ति दोष प्रसङ्ग से। परन्तु १२८ सूत्रस्थ ''**लघ्वादिधर्मैः**'' इस भेद-विषय में किसी ने भी कुछ न कहा। हम तो कहते हैं कि पूर्वसूत्र में ''**प्रीत्यप्रीतिविषादाद्यैः**''=प्रीति-अप्रीतिविषादादि से परीक्षणीय परन्तु उत्तरसूत्र में ''लघ्वादिधर्मैः''=लघु आदि धर्मों से निरीक्षणीय कुछ रहस्य यहां है। वह क्या यह कहते हैं ? इन दोनों सूत्रों से पूर्व सूत्र है ''**त्रिगुणाचेतनत्वादि द्वयोः**'', यहां 'द्वयोः' पाठ से कारण और कार्य प्रस्तुत हैं। उस सूत्र से यहां दोनों सूत्रों में त्रिगुणत्वविषय में विवेचना की जाती है कि कारण-कार्य क्रम के प्रस्तुत होने से गुणों के विषय में विशिष्ट वर्णन के लिये कारण-कार्य क्रम की दृष्टि से ये दो सूत्र जानने चाहिएं। दोनों सूत्रों में भिन्न-भिन्न विषय का प्रतिपादन होने से या पृथक्-पृथक् कथन प्रकरण से यहां पुनरुक्ति शङ्का न उठानी चाहिए। पूर्व सूत्र में कारण गुण प्रदर्शित किए जाते हैं प्रीति आदि, और उत्तर सूत्र में लघु आदि कार्यगुणों का विवेचन करते हैं। यहां उत्तर सूत्र में '**गुणानाम्**' पाठ के स्थान में '**गुणवताम्**' पाठ होना सम्भव है क्योंकि कार्य तो गुणवान् होते हैं। प्रकृति गुणवती नहीं किन्तु गुणमयी है कहा है— ''**सत्त्वादीनामतद्धर्मत्वं तद्रूपत्वात्**'' (साख्य ६। ३९)। 'गुणानाम्' पाठ लिपिप्रमाद से हो सकता है। अतः उत्तर सूत्र में कार्यगुण विचार-प्रसङ्ग से सूत्ररचना में दोष नहीं। अब सूत्रार्थ उपस्थित करते हैं।

उन में प्रथम सूत्र कारणगुणविषयक—

प्रीत्यप्रीतिविषादाद्यैर्गुणानामन्योऽन्यं वैधर्म्यम् ॥ १२७ ॥

(गुणानां प्रीत्यप्रीतिविषादाद्यैः) सत्त्वरजतमगुणों=कारणगुणों=केवल

गुणों के प्रीति=प्रसन्नता, अप्रीति=अप्रसन्नता, विषाद=मोह, आदि शब्द से लघुत्व, चलत्व, गुरुत्व लक्षित हैं। जैसे मनुस्मृति में—

तत्र यत्प्रीतिसंयुक्तं किञ्चिदात्मनि लक्षयेत्।
प्रशान्तमिव शुद्धाभं सत्त्वं तदुपधारयेत्॥
यत्तु दुःखसमायुक्तमप्रीतिकरमात्मनः।
तद्रजोऽप्रतिमं विद्यात्सततं हारि देहिनाम्॥
यत्तु स्यान्मोहसंयुक्तमव्यक्तं विषयात्मकम्।
अप्रतर्क्यमविज्ञेयं तमस्तदुपधारयेत्॥

(मनु० १२। २७—२९)

अर्थात् जो प्रीतियुक्त कुछ आत्मा को लक्षित हो तथा प्रशान्त शुद्धप्रकाश उसे 'सत्त्वगुण' जाने। जो तो आत्मा को दुःखयुक्त अप्रीतिकर हो, उसे 'रजोगुण' जाने। और जो तो मोहसंयुक्त, अव्यक्त, विषयात्मक, अनिश्चयरूप, न जाना हुआ, उसे 'तमोगुण' समझो॥ इन प्रीति आदि धर्मों द्वारा (अन्योऽन्यं वैधर्म्यम्) परस्पर वैधर्म्य=भिन्नत्व है। कारण गुणों=केवल गुणों में साधर्म्य नहीं रहता है] क्योंकि साधर्म्य होने पर गुणरूपता में नहीं रहते किन्तु प्रकृति ही उस समय होती है—"**सत्त्व-रजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः**" (सांख्य० १।६१) गुणों का वैधर्म्य ही सृष्टि का कारण है= "**साम्यवैषम्याभ्यां कार्यद्वयम्**" (सांख्य० ६। ४२)=प्रकृति में तो गुण अनुद्भूत हैं=अप्रकट हैं। महत्तत्त्व में गुण प्रकट होते हैं सत्त्व के नेतृत्व में, अहङ्कार में गुण स्फुरित होते हैं रजोगुण के नेतृत्व में, पञ्चतन्मात्रों और इन्द्रियशक्तियों में गुण आगे फैलते है तमोगुण के आधार पर, ये गुण कारणगुण नहीं होते हैं॥ १२७॥

अब कार्यगुणविषयकसूत्र—

लघ्वादिधर्मैः साधर्म्यं वैधर्म्यं च गुणवताम् (गुणानाम्?)॥ १२८॥

(गुणवताम्) गुणवाले=सत्त्वरजस्तमोगुणवाले भूत-भौतिकों और इन्द्रियों का (भूतभौतिक और इन्द्रियाँ गुणवाले हैं, यह कहा है) "**प्रकाशक्रियास्थितिशीलं भूतेन्द्रियात्मकं भोगापवर्गार्थं दृश्यम्**" (योग० २।१८) या उन भूतभौतिकों और इन्द्रियों में रहने वाले गुणों का (लघ्वादिधर्मैः) लघुत्व, चलत्व, गुरुत्व धर्मों के द्वारा (साधर्म्यं वैधर्म्यं च) समानधर्मत्व और विरुद्धधर्मत्व होता है। उन में सत्त्वगुणवालों का

परस्पर लघुत्व धर्म से, रजोगुणवालों का परस्पर चलत्वधर्म से, तमोगुण वालों का परस्पर गुरुत्वधर्म=साधर्म्य=समानधर्मत्व होता है। पुनः सत्त्वगुणवालों का रजोगुणवालों के साथ और तमोगुणवालों के साथ चलत्व और गुरुत्व से तथा रजोगुणवालों का सत्वगुणवालों के साथ और तमोगुणवालों का सत्त्वगुण वालों के साथ और रजोगुणवालों के साथ लघुत्व और चलत्व धर्मों से वैधर्म्य है। एक-एक गुण के प्रधान होने से पदार्थ उस-उस गुणवाले प्रसिद्ध होते हैं। व्यास ने कहा है योगभाष्य में—"**एवमेते गुणा इतरेतराश्रयिणोपार्जितसुखदुःखमोहप्रत्ययाः सर्वे सर्वरूपा भवन्तीति गुणप्रधानभावकृतस्तेषां विशेष इति**" (योग० २। १५ व्यासः)=ये सत्वादि गुण एक दूसरे के आश्रय से=परस्पर आश्रय से प्राप्त सुखदुःखमोह-प्रतीतिवाले सब सर्वरूप होते हैं। गौण और मुख्य भाव के कारण उनका विशेष रूप होता है। ऐसे ही गीता में भी कहा है—"**रजस्तमश्चाभिभूय सत्त्वं भवति भारत। रजः सत्त्वं तमश्चैके तमः सत्त्वं रजस्तथा॥**" (गीता० २४। १०)=रजोगुण और तमोगुण को दबाकर सत्त्व होता है, सत्त्वगुण और तमोगुण को दबाकर रजोगुण होता है तथा सत्त्वगुण और रजोगुण को दबाकर तमोगुण भी होता है। सुश्रुत में भी कहा है—"**सत्त्वबहुलमाकाशं रजोबहुलो वायुः सत्त्वरजो-बहुलोऽग्निः सत्त्वतमोबहुला आपस्तमोबहुला पृथिवी॥**" (सुश्रुत० शरीरस्थान २। २०)=सत्त्वप्रधान आकाश, रजोगुणप्रधान वायु, सत्त्वगुण-रजोगुण-प्रधान अग्नि, सत्त्व—तम-प्रधान जल, तमोगुण-प्रधान पृथिवी। यहां सांख्यदर्शन में भी "**ऊर्ध्वं सत्त्वविशाला। तमोविशाला मूलतः। मध्ये रजोविशाला**" (सांख्य० ३। ४८-५०)=ऊंची सृष्टि सत्त्वप्रधान, नीची सृष्टि तमोगुणप्रधान, मध्यमा सृष्टि रजोगुणप्रधान होती है। तथा "**ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्था मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः। जघन्यगुणवृत्तिस्था अधो गच्छन्ति तामसाः॥**" (गीता० १४। १८)=सत्त्व गुणवाले ऊंची सृष्टि में जाते हैं, रजोगुणवाले मध्यमसृष्टि में और तमोगुणवाले नीच सृष्टि में जाते हैं। तथा मनुस्मृति में भी—"**स्थावराः कृमिकीटाश्च मत्स्याः सर्पाः सकच्छपाः। पशवश्च मृगाश्चैव जघन्या तामसी गतिः॥**" (मनु० १२। ४२)=स्थावर, कृमिकीट, मछलियां, कछवे और सर्प, पशु, मृग, ये तमोगुण वाले हैं। तथा "**आहारस्त्वपि सर्वस्य त्रिविधो भवति प्रियः।**" (गीता० १७। ७)= सबका भोजन भी त्रिविध—सत्त्वगुणी, रजोगुणी, तमोगुणी होता है। और भी "**आयुःसत्त्वबलारोग्यसुखप्रीतिविवर्धनाः।**

रस्याः स्निग्धाः स्थिरा हृद्या आहाराः सात्त्विकप्रियाः। कट्वम्ल-लवणात्युष्णरूक्षविदाहिनः। आहारा राजसस्येष्टा दुःखशोकामयप्रदाः। यातयामं गतरसं पूति पर्युषितं च यत्। उच्छिष्टमपि चामेध्यं भोजनं तामसप्रियम्॥'' (गीता० १७। ८-१०)=आयु, जीवन, बल, आरोग्य, सुख-प्रीति बढ़ानेवाले, रसीले, चिकने, स्थिर=हृदय को ठीक रखने वाले आहार सात्त्विक हैं। कड़वे, चरपरे, लवण, अत्यन्त गरम=तीक्ष्ण, रूखे, जलन करने वाले, दुःख-शोक-रोग देनेवाले भोजन रजोगुणी हैं। प्रहरव्यतीत हुआ पका भोजन, नीरस, दुर्गन्धित, बासी, झूठा, अपवित्र भोजन तमोगुणी है।

अब अन्य विचार करते हैं—पूर्व सूत्र में वर्णित 'प्रीति, अप्रीति, विषाद' ये तीनों धर्म उत्तर सूत्र में साधर्म्यप्रसङ्ग में छोड़ दिये, क्यों? इसलिये इनका साधर्म्य प्रसङ्ग मन को छोड़कर किसी भी गुणवान् पदार्थ भूतभौतिक या इन्द्रियात्मक में सम्भव नहीं। मन में ही प्रीति, अप्रीति और विषाद तीनों धर्म होते हैं, उनका मन में वैधर्म्य व्यवहार होता है। उनके साधर्म्य का अभाव ही मन में है क्योंकि उनके साधर्म्य में तो मन का निरोध हो जाता है। मन से भिन्नवस्तु में प्रीति, अप्रीति, विषाद उद्भव नहीं होते, अतः उत्तर सूत्र में प्रीति आदि धर्मों को छोड़कर लघु आदि धर्म ही साधर्म्य में रखे हैं, वैधर्म्य तो उनका मन में होने से पूर्वसूत्र में अन्तर्भूत है ही। अनिरुद्धवृत्ति और विज्ञानभिक्षुभाष्य में इस सूत्र का अन्यथा अर्थ किया है। विज्ञानभिक्षुभाष्य में तो सत्त्व आदि गुणों की व्यक्तियां (शरीर) कल्पित की हैं, वह कल्पना ठीक नहीं। सत्त्व आदियों की व्यक्तियां स्वतन्त्र अवस्थान वाली नहीं हैं, आश्रय को आश्रित करके ही ये गुण रहते हैं॥ १२८॥

कारण-कार्य के प्रसङ्ग से कारणगुणों और कार्यगुणों के साधर्म्य और वैधर्म्य दर्शाकर पुनः कार्य-कारणविषय को विशेष सम्बन्ध जताने के लिये उपस्थित करते हैं—

उभयान्यत्वात् कार्यत्वं महदादेर्घटादिवत्॥ १२९॥

(महदादेः कार्यत्वम्) महत्तत्त्व से लेकर भूत और इन्द्रियपर्यन्त वस्तुमात्र का कार्यत्व है=महत्तत्त्व से भूत एवं इन्द्रिय पर्यन्त कार्य है (उभयान्यत्वात्) दोनों प्रकृति—पुरुष से भिन्न होने के कारण (घटादिवत्) जैसे घड़ा आदि पदार्थ कार्यरूप भोग्य और नश्वर हैं, पुरुष भोक्ता और पुरुषविशेष परमात्मा कर्ता, प्रकृति नित्य है, इन से भिन्न महत्तत्त्वादि हैं,

अतः वे कार्य हैं ॥ १२९ ॥

अन्य हेतु—

परिमाणात् ॥ समन्वयात् ॥ शक्तितश्चेति ॥ १३०-१३२ ॥

(परिमाणात्) परिमितधर्म से=सङ्कोचधर्म से=परिमितयोग से (समन्वयात्) कारणानुसार स्वरूपवान् होने से (च) और (शक्तितः) निमित्तकारण में जो शक्ति=कार्योत्पादानशक्ति, उससे उत्पन्न होने वाला होने से, महत्तत्त्व आदि का कार्यत्व सिद्ध होता है (इति) कार्यहेतुता और कार्य प्रसङ्ग की समाप्ति सूचक है ॥ १३०—१३२ ॥

महत्तत्त्वादि कार्य न होने पर—

तद्धाने प्रकृतिः पुरुषो वा ॥ १३३ ॥

(तद्धाने) महत्तत्त्वादि के कार्यत्व-विनाश हो जाने पर (प्रकृतिः पुरुषः-वा) वह महत्तत्त्व आदि प्रकृति या पुरुष रह जाते हैं। अथवा (तद्धाने) महत्तत्त्वादि के कार्यत्व स्वीकार न किए जाने पर (प्रकृतिः पुरुषः-वा) वह प्रकृति या पुरुष हो सके ॥ १३३ ॥

पुनः—

तयोरन्यत्वे तुच्छत्वम् ॥ १३४ ॥

(तयोः-अन्यत्वे) यदि महत्तत्त्वादिक विनष्ट न हो या कार्य न हो किन्तु उन प्रकृति-पुरुष से भिन्न वस्तु हो तब उस ऐसे वस्तु का (तुच्छत्वम्) तुच्छत्व=अभाव सिद्ध हो, क्योंकि प्रकृति पुरुष से भिन्न वस्तु नित्य नहीं हो सकती ॥ १३४ ॥

वस्तुतः महत्तत्त्वादि कार्य और प्रकृति कारण है—

कार्यात् कारणानुमानं तत्साहित्यात् ॥ १३५ ॥

(कार्यात्-कारणानुमानम्) कार्य से कारण का अनुमान हो जाता है, कैसे ? (तत्साहित्यात्) कारण साहित्य से=कारण के साथ युक्त होने से कार्यसत्ता होती है, कार्य में कारण सूक्ष्म होकर परिपूर्ण रहता है। जैसे घड़े में मिट्टी, वस्त्र में तन्तु, तन्तुओं में रूई के अंशु=रोंगटे। इससे कारण के साथ युक्त होने से महत्तत्त्वादिक कार्य है ॥ १३५ ॥

और प्रकृत्याख्य कारण—

अव्यक्तं त्रिगुणाल्लिङ्गात् ॥ १३६ ॥

(त्रिगुणात्—लिङ्गात्) तीन गुणोंवाले महत्तत्त्व से (अव्यक्तम्)

अव्यक्त सूक्ष्म हो, उसके अन्दर परिपूर्ण अनुमान करना चाहिए ॥ १३६ ॥

अतः—

तत्कार्यतस्तत्सिद्धेर्नापलापः ॥ १३७ ॥

(तत्कार्यतः) महत्तत्त्व अव्यक्त का कार्य=प्रकृति का कार्य होने से (तत्सिद्धेः) अव्यक्त की=प्रकृति की सिद्धि होने से (न—अपलापः) अन्यथा कथन नहीं है ॥ १३७ ॥

और पुरुषसिद्धि में—

सामान्येन विवादाभावाद् धर्मवन्न साधनम् ॥ १३८ ॥

(सामान्येन विवादाभावात्) यहां अगले सूत्र में 'पुमान्' शब्द प्रथम उत्कर्षित किया जाता है=लक्षित किया जाता है। सप्तमी विभक्ति में 'पुंसि'= पुरुष में सामान्य से विवाद का अभाव होने से, पुरुष को सामान्यतः सब मानते हैं (धर्मवत्) धर्म के समान, जैसे सब दार्शनिक तात्त्विक विद्वान् मानव धर्म को मानते हैं कि जिसको आश्रित कर मानव जीवनसाफल्य होता है, वैसे पुरुष को मानते हैं। पुरुषमान्यता में तो सब दार्शनिकों की मान्यता समान है, उस में तो (साधनं न) साधन अपेक्षित नहीं, परन्तु विशेष मान्यता में साधन चाहिए, क्योंकि कोई शरीर को ही पुरुष मानते हैं, कोई अन्तःकरण को, इत्यादि विशिष्ट मान्यता है ॥ १३९ ॥

उस पुरुष के विषय में विशेषमान्यता—

शरीरादिव्यतिरिक्तः पुमान् ॥ १३९ ॥

(शरीरादिव्यतिरिक्तः) शरीर आदि से=शरीर, इन्द्रिय, अन्तःकरण से तथा भूतभौतिकों प्रकृतिपर्यन्त पदार्थों से भिन्न पुरुष है। उस में सामष्टिक पुरुषविशेष ईश्वर और शरीर के अन्दर रहने वाला जीवात्मा पुरुष भी भिन्न है ॥ १३९ ॥

उस में हेतु दिये जाते हैं—

संहतपरार्थत्वात् ॥ १४० ॥

(संहतपरार्थत्वात्) शरीर आदि संहत हैं=खण्डों से युक्त हैं=मिले हुए हैं। संहत स्वार्थ नहीं होते उनके जड़ होने से, शय्या आदि के समान, किन्तु परार्थ ही हैं। इस कारण जिसके अर्थ शरीर आदि हैं, वह शरीर आदि से परे है, भिन्न है, यह प्रथम हेतु है ॥ १४० ॥

दूसरा हेतु—

त्रिगुणादिविपर्ययात् ॥ १४१ ॥

(त्रिगुणादिविपर्ययात्) सत्त्व, रज, तम तीन गुण तथा आदि शब्द से जड़त्व पुरुषाधीनत्व ग्रहण किए जाते हैं। इनके विपर्यय से पुरुष में कहे धर्मों के विपरीतत्व=अभाव और भिन्न धर्मों=चेतनत्व आदि का भाव है, अतः शरीर आदि से भिन्न पुरुष है॥ १४१ ॥

और भी—

अधिष्ठानाच्चेति ॥ १४२ ॥

(अधिष्ठानात्—च) और पुरुष शरीर आदि का अधिष्ठान=अधिष्ठाता के धर्म से आश्रय है तथा अधिष्ठेय शरीर आदि है, अतः पुरुष शरीर आदि से भिन्न है। (इति) ऐसा कथन ईश्वर जीवात्मा के समान धर्मों की कथन समाप्ति है। इस में ईश्वर का अधिष्ठातृत्व सृष्टिकर्तृत्व से है, जीवात्मा का अधिष्ठातृत्व देह व्यापार का प्रवर्तक होने से है॥ १४२ ॥

तथा—

भोक्तृभावात् ॥ १४३ ॥

(भोक्तृभावात्) पुरुष में भोक्तृभाव=भोगने की प्रवृत्ति है, भोग्य शरीर आदि है, अतः इससे भिन्न है। पूर्व कहा भी है—"**चिदवसानो भोगः**" (सांख्य० १। १०४)

कैवल्यार्थं प्रवृत्तेश्च ॥ १४४ ॥

(कैवल्यार्थं प्रवृत्तेः—च) पुरुष आत्मस्वरूपार्थ=मोक्षार्थ प्रवृत्त होता है, अतः वह शरीर आदि से भिन्न है। यदि शरीर आदि से भिन्न न हो तो कैवल्यार्थ कौन प्रवृत्त हो? वह ऐसी प्रवृत्तिवाला नित्य चेतन पुरुष ही है॥ १४४ ॥

पुरुष की कैवल्यार्थ प्रवृत्ति कैसे? इसके सम्बन्ध में कहते हैं—

जडप्रकाशायोगात् प्रकाशः ॥ १४५ ॥

(जडप्रकाशायोगात्) जड में स्वात्मप्रकाश का सम्भव न होने से उसकी कैवल्यार्थ प्रवृत्ति के असम्भव से (प्रकाशः) पुरुष ही प्रकाशस्वरूप चेतन है। वह स्वात्मप्रकाशनार्थ कैवल्यार्थ प्रवृत्त होता है, अतः वह शरीर आदि से भिन्न है॥ १४५ ॥

ऐसे तो पुरुष चेतनावान्=चेतनधर्मवान्, प्रकाशधर्मवान् दीप की भांति धर्मी सिद्ध होगा, धर्म से=गुण से कैसे विमोक्ष हो? यहां कहते हैं—

निर्गुणत्वान्न चिद्धर्मा ॥ १४६ ॥

(निर्गुणत्वात्) पुरुष निर्गुण होने से (चिद्धर्मा न) चेतन-धर्मवान् चेतनधर्म से चेतनधर्मी=चेतनधर्मवाला नहीं है किन्तु केवल प्रकाशात्मक ज्ञानस्वरूप है ॥ १४६ ॥

निर्गुणत्व में हेतु—

श्रुत्या सिद्धस्य नापलापस्तत्प्रत्यक्षबाधात् ॥ १४७ ॥

(श्रुत्या सिद्धस्य) श्रुति से पुरुष के निर्गुणत्व सिद्ध हुए का (अपलापः—न) अपलाप=खण्डन नहीं हो सकता "**असङ्गो ह्ययं पुरुषः**" (बृह०४।३।१५) (तत्प्रत्यक्षबाधात्) निर्गुणत्व का प्रत्यक्षबाध प्रसङ्ग आ जाने से। अतः वह प्रकाशस्वरूप चेतन आत्मा शरीर आदि से भिन्न है ॥ १४७ ॥

इसीलिये—

सुषुप्त्याद्यसाक्षित्वम् ॥ १४८ ॥

(सुषुप्त्याद्यसाक्षित्वम्) सुषुप्ति आदि का वह पुरुष साक्षी होता हुआ शरीर आदि से भिन्न है। अन्यथा, मैं गहरा मूढ़ हुआ सोया, मैं सुख से सोया, यह प्रतिभान न हो। अतः शरीर आदि से भिन्न पुरुष चेतन प्रकाशस्वरूप है ॥ १४८ ॥

शरीर आदि से पुरुष की भिन्नता निर्णीत हो जाने पर फिर उसके संख्याविषय में विचार करते हैं। प्रथम सिद्धान्त की स्थापना करते हैं—

जन्मादिव्यवस्थातः पुरुषबहुत्वम् ॥ १४९ ॥

(जन्मादिव्यवस्थातः—पुरुषबहुत्वम्) जन्म-मरण जीवन-व्यवस्था से कोई जन्मता है, कोई मरता है, कोई जीता है, यह विविध अवस्थाएं बहुत पुरुष होने पर भी सम्भव हैं। शास्त्र में पुण्य से पुण्यलोक में जन्मता है और पाप से पापलोक में, तथा आदि शब्द से मुक्तत्व और बद्धत्व भी लिये जाते हैं। ये भी पुरुषों के बहुत होने पर सम्भव है ॥१४९ ॥

पूर्वपक्षत्व से कहते हैं—

उपाधिभेदेऽप्येकस्य नानायोग आकाशस्येव घटादिभिः ॥ १५० ॥

(उपाधिभेदे=अपि) उपाधिभेद=उपाधान भेद=आश्रय-भेद होने पर भी (एकस्य नानायोगः) एक पुरुष की नाना-योजना अर्थात् बहुता=

बहुत संख्या हो सकती है (आकाशस्य—इव घटादिभिः) जैसे घड़ा, गढ़ा, घर रूप उपाधानों=आश्रयों से आकाश की नानायोजना=बहुता होती है॥ १५०॥

समाधान करते हैं—

उपाधिर्भिद्यते न तु तद्वान्॥ १५१॥

(उपाधिः—भिद्यते) हो उपाधिभेद, उस से क्या? उपाधि भिन्न-भिन्न हो, उससे (तद्वान्—तु न) उपाधिवाला तो नहीं भिन्न-भिन्न हो सकता? अतः उपाधिभेद से पुरुष बहुत मानना ठीक नहीं। पुरुष का बहुत्व तो वास्तविक है, जैसे पूर्व कहा है॥ १५१॥

और पुरुष के एकत्व में यह दोष आता है—

एवमेकत्वेन परिवर्तमानस्य न विरुद्धधर्माध्यासः॥ १५२॥

(एवम्—एकत्वेन) इस प्रकार एकत्व से=एकरूपता से (परिवर्तमा-नस्य) परितो वर्तमान=सर्वतो वर्तमान=सर्वत्र व्याप्त पुरुष का (विरुद्ध-धर्माध्यासः—न) विरुद्धधर्मों का—मैं सुखी, मैं दुःखी, मैं रोगी, मैं स्वस्थ तथा वह उत्पन्न हुआ, वह मरा, यह अनुभव या सम्बन्ध न हो सके॥ १५२॥

यदि विरुद्ध धर्म उपाधि के हैं तो—

अन्यधर्मत्वेऽपि नारोपात् तत्सिद्धिरेकत्वात्॥ १५३॥

(अन्यधर्मत्वे) उपाधि के धर्म होने पर वे विरुद्ध धर्म-सुखी होना, दुःखी होना, स्वस्थ होना, रोगी होना उपाधि के हों तब (आरोपात्—अपि) उन उपाधिधर्मों के आरोप से भी (तत्सिद्धिः—न—एकत्वात्) पुरुष में विरुद्धधर्मत्व की सिद्धि नहीं हो सकती, क्योंकि आरोप करनेवाला पुरुष एक है। वह कैसे विरुद्ध धर्मों का अपने में एक समय में आरोप कर सके? संसार में एक काल में किन्हीं का जन्म होता है किन्हीं का मरण तथा एक ही काल में कुछ सुखी होते हैं कुछ दुःखी होते हैं, कोई स्वस्थ होते हैं कोई रोगी देखे जाते हैं। अतः पुरुषों का बहुत होना ही युक्त है॥ १५३॥

यदि पुरुष अनेक हैं तो "**असङ्गो ह्ययं पुरुषः**" (बृह० ४। ३। १५—१६) यहां पुरुष एक वचन में क्यों पढ़ा है? इससे तो एकत्व कथन रूप श्रुतिविरोध आता है। उत्तर देते हैं—

नाद्वैतश्रुतिविरोधो जातिपरत्वात् ॥ १५४ ॥

(अद्वैतश्रुतिविरोधः—न) अद्वैतश्रुति से विरोध नहीं आता, क्योंकि (जातिपरत्वात्) उस श्रुति में एकत्व वर्णन=एक वचन-कथन जातिपरक है। जाति एक होती है व्यक्ति अनेक। अन्यत्र श्रुति में पुरुष बहुत कहे हैं—"**ये तद्विदुरमृतास्ते भवन्ति, अथेतरे दुःखमेवापियन्ति**" (बृह० ४। ४। १४) ॥ १५४ ॥

क्यों जी! "**असङ्गो ह्ययं पुरुषः**" (बृह० ४। ३। १५) इस वचन में पुरुष शब्द जातिपरक है तो "असङ्ग" विशेषण तो बहुत व्यक्तियों में उस रूप से सङ्गत नहीं होता है, क्योंकि व्यक्तिभेद तो सङ्ग से होता है, असङ्ग हो सङ्गवर्जित केवल एक ही, फिर व्यक्तियों में असङ्गत्व कैसे हो? इस आकांक्षा पर कहते हैं—

विदितबन्धकारणस्य दृष्ट्या तद्रूपम्* ॥ १५५ ॥

(विदितबन्धकारणस्य) जान लिया है बन्ध का कारण अविवेक जिसने, उस विवेक को प्राप्त हुए=विवेक द्वारा बन्धन से निवृत्त हुए विवेकी जन की (दृष्ट्या) दृष्टि से (तद्रूपम्) असङ्गरूप कहा है, अतः पुरुषबहुत्व में दोष नहीं ॥ १५५ ॥

विदितबन्धकारण जन की दृष्टि कही, अन्य की क्यों नहीं? वैसे रूप की अनुभूति तो सर्वपुरुषों का धर्म है। इस पर कहते हैं—

नान्धादृष्ट्या चक्षुष्मतामनुपलम्भः ॥ १५६ ॥

(अन्धादृष्ट्या) अन्धे की अदृष्टि से=दृष्टि न होने से (अनुपलम्भः) अनुपलम्भ=रूप-अदर्शन होता है (चक्षुष्मतां न) नेत्रवालों का अदर्शन नहीं होता। विवेकनेत्रवालों=प्राप्तविवेकजनों को असङ्गत्वानुभूति होती है, विवेकरहितों को नहीं। अतः पुरुषबहुत्व सिद्धान्त अनिन्दनीय है।

पूर्व सूत्र और इस सूत्र का विज्ञानभिक्षुभाष्य में अन्यथा अर्थ किया है ॥ १५६ ॥

और भी—

वामदेवादिर्मुक्तो नाद्वैतम् ॥ १५७ ॥

(वामदेवादिः—मुक्तः) वामदेव, शुक, भरत आदि मुक्त हुए, इस बहुवचन-प्रयोग से (अद्वैतं न) अद्वैत नहीं=आत्मा एक ही नहीं है।

---

* 'तद्रूपम्' अनिरुद्ध का पाठ है, विज्ञानभिक्षु का तो 'अतद्रूपम्' है।

मुक्तों के अनेक होने से भी पुरुष का एकत्व नहीं॥ १५७॥

यदि न मानें कोई मुक्त हुआ तो?—

अनादावद्ययावदभावाद् भविष्यदप्येवम्॥ १५८॥

(अनादौ—अद्ययावत्—अभावात्) अनादिकाल को ले आजतक मुक्त का अभाव=यदि कोई मुक्त नहीं हुआ तो (भविष्यत्—अपि—एवम्) भविष्यत् काल भी वैसा ही मुक्तों से रहित हो सकेगा, फिर मुक्ति का उपदेश निरर्थक हो जावे॥ १५८॥

क्यों जी! पुरुषबहुत्व स्वीकार कर लेने पर भी बहुतों के मुक्त हो जाने पर वा सब के मुक्त हो जाने पर संसार का उच्छेद हो जावे, आदि—सर्ग से आजतक क्रम से सब के मुक्त हो जाने पर? इस पर कहते हैं—

इदानीमिव सर्वत्र नात्यन्तोच्छेदः॥ १५९॥

(इदानीम्—इव सर्वत्र) सम्प्रतिकाल या सर्ग के समान सर्वत्र काल या सब सर्गों में (अत्यन्तोच्छेदः—न) संसार का उच्छेद न होगा। किसी भी पुरुष का नाम मोक्ष=ब्रह्म में लय नहीं होता। यदि हो जावे तो जगत् न रहे, न उपलब्ध हो। है, उपलब्ध होता है जगत्, अतः परममोक्ष पुरुष का नहीं होता।

ऐसे ही विज्ञानभिक्षुभाष्य में भी कहा है—"सर्वत्र काले बन्धस्यात्यन्तोच्छेदः कस्यापि पुंसो नास्ति वर्तमानकालवदित्यनुमानं सम्भवेदित्यर्थः" (विज्ञानभिक्षुभाष्यम्)=सब काल में बन्ध का अत्यन्त उच्छेद किसी भी पुरुष का नहीं होता, वर्तमान काल की भांति अनुमान का सम्भव है॥ १५९॥

पुरुष के अत्यन्त बन्धनाश के अभाव में या परममोक्षाभाव में हेतु कहते हैं—

व्यावृत्तोभयरूपः॥ १६०॥

(व्यावृत्तोभयरूपः) क्योंकि पुरुष दोनों रूपों से=मुक्तत्व-बद्धत्व से पृथक् है। अविवेक से बद्ध होता है, विवेक से मुक्त होता है। आगे सूत्रकार कहेगा—"**नैकान्ततो बन्धमोक्षौ पुरुषस्याविवेकादृते**" (सांख्य० ३।७१)। अतः उसका परम मोक्ष नहीं। सब पुरुषों के क्रमशः मुक्त हो जाने से संसारोच्छेद का प्रसङ्ग नहीं आता। वह यह सिद्धान्त सांख्य में दो सूत्रों से वर्णित किया हुआ दयानन्द ऋषि का अभिमत है॥१६०॥

और जो पुरुषविशेष ईश्वर "**क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः**

पुरुषविशेष ईश्वरः'' (योग० १।२४) कहा है, जिसके विषय में श्रुति में ''**जीवेनात्मनाऽनुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि**'' (छान्दो० ६।३।२)=जीवात्मा के साथ अनुप्रवेश करके नाम रूप प्रकट करूं। ''**य आत्मनि तिष्ठन् यस्यात्मा शरीरम्**'' (बृह० ३।७।२२)=जो आत्मा में रहता हुआ जिसका आत्मा शरीर रूप है, ऐसा कहा है, तथा जिस पर पुरुष को प्राप्त कर यह शरीरवर्ती जीव मुक्त हो जाता है—''**परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम्**'' (मुण्ड० ३।२।८)=उस परमपुरुष पुरुषविशेष ईश्वर का इस शरीरवर्ती जीवात्मरूप पुरुष के साथ तुलना से क्या रूप है, यह प्रसङ्गतः वर्णन करते हैं—

साक्षात् सम्बन्धात् साक्षित्वम्॥ १६२॥
नित्यमुक्तत्वम्॥ १६२॥
औदासीन्यं चेति॥ १६३॥

इन तीनों सूत्रों का एक स्थान पर ही अर्थ करते हैं—

(साक्षात् सम्बन्धात् साक्षित्वम्) शरीरवर्ती जीवात्मरूप पुरुष में साक्षात् सम्बन्ध से अन्तर्यामित्वसम्बन्ध से उस परम पुरुष पुरुषविशेष ईश्वर का साक्षित्व अन्तर्यामित्व है। उसके किये सर्वव्यापार का द्रष्टा होना, ज्ञाता होना, उसके लिये भोग—अपवर्ग प्रदान करना, नियन्ता होना है। जैसे श्रुति में उसका साक्षित्व कहा है—''**द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते। तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति॥**'' (ऋ० १।१६४।२०) 'अभिचाकशीति' श्रुति से उसका साक्षित्व स्पष्ट दर्शाया है। और फिर (नित्यमुक्तत्वम्) शरीरवर्ती पुरुष तो कभी बद्ध होता है अविवेक से और कभी मुक्त होता है विवेक से। वह न नित्यबद्ध है। विवेक और अविवेक निमित्तवाले उसका मुक्तत्व और बद्धत्व पर्यावर्तन से है, परन्तु परमपुरुष पुरुषविशेष ईश्वर का नित्यमुक्तत्व सदामुक्तत्व है, वह तो सदैव मुक्त है। और (औदासीन्यं च-इति) उस शरीरवर्ती जीवात्मरूप पुरुष के अन्दर रहते हुए ईश्वर का उसके कर्मफल भोग के प्रति सम्पर्क रहितत्व है, जैसे कहा है—''**अकामो धीरः**'' (अथर्व० १०।८।४४)=वह परमात्मा अकाम है, धीर है=''**न लिप्यते लोकदुःखेन बाह्यः**'' (कठो० २।२।११)=लोकदुःख से वह लिप्त नहीं होता, भोक्ता आत्मा से बाहिर रहता हुआ विभु परमात्मा। सूत्र में 'इति' शब्द शरीरवर्ती जीवात्मरूप पुरुष के साथ तुलना की समाप्ति का

सूचक है॥ १६१-१६३॥

अब उस ऐसे परम पुरुष पुरुषविशेष ईश्वर का प्रकृतिनामक प्रधान के साथ सम्बन्ध प्रदर्शित करते हैं—

उपरागात् कर्तृत्वं चित्सान्निध्यात्-चित्सान्निध्यात्॥ १६४॥

(उपरागात्) प्रकृति के उपाश्रय से=उस प्रकृति के उसके अधीन वर्तमान होने से पुरुषविशेष ईश्वर का (कर्तृत्वम्) सृष्टि का कर्ता होना है। जैसे कहा है—"**एकं रूपं बहुधा यः करोति**" (श्वेता० ६।१२)=एक रूप को जो बहुत कर देता है। और (चित्सान्निध्यात्) चेतन पुरुषविशेष ईश्वर के सन्निधानसम्बन्ध से संसर्ग से=समावेश सम्बन्ध से प्रधान का= प्रकृतिनामक अव्यक्त का कर्तृत्व=कर्तापन है। '**प्रधानस्य**' यह पद अगले अध्याय के प्रथम सूत्र-सम्बन्ध से यहां लक्षित है, उसके साथ यहां सूत्र में '**चित्सान्निध्यात्**' का सम्बन्ध है। प्रकृति का कर्तृत्व भी श्रुति में वर्णित है—"**अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः**" (श्वेता० ४।५)। 'चित्सान्निध्यात्' यह द्विरुक्ति अध्यायसमाप्ति सूचक है॥ १६४॥

सांख्यदर्शन में स्वामिब्रह्ममुनिभाष्योपेत
प्रथम अध्याय समाप्त हुआ।

❑❑